Chapter उन्तीस

नारद तथा राजा प्राचीनबर्हि के मध्य वार्तालाप

प्राचीनबर्हिरुवाच

भगवंस्ते वचोऽस्माभिर्न सम्यगवगम्यते ।

कवयस्तद्विजानन्ति न वयं कर्ममोहिताः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

प्राचीनबर्हिः उवाच—राजा प्राचीनबर्हि ने कहा; भगवन्—हे स्वामी; ते—तुम्हारे; वचः—शब्द; अस्माभिः—हमारे द्वारा; न—कभी नहीं; सम्यक्—पूर्णतया; अवगम्यते—समझे जाते हैं; कवयः—पटु लोग; तत्—वह; विजानन्ति—समझ सकते हैं; न—कभी नहीं; वयम्—हम; कर्म—कर्मों द्वारा; मोहिताः—मोहित।

राजा प्राचीनबर्हि ने उत्तर दिया : हे प्रभु, हम आपके कहे गये राजा पुरञ्जन के रूपक आख्यान (अन्योक्ति) का सारांश पूर्ण रूप से नहीं समझ सके। वास्तव में जो आध्यात्मिक ज्ञान में निपुण हैं, वे तो समझ सकते हैं, किन्तु हम जैसे सकाम कर्मों में अत्यधिक लिप्त पुरुषों के लिए आपके आख्यान का तात्पर्य समझ पाना अत्यन्त कठिन है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (७.१३) में भगवान् कृष्ण कहते हैं—

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।

मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्॥

"तीनों गुणों (सतो, रजो तथा तमो) से मोहित यह सारा संसार मुझको नहीं जान पाता; मैं गुणों से ऊपर तथा अक्षय हूँ।" सामान्यतः लोग प्रकृति के तीन गुणों से मोहग्रस्त हैं, इसलिए वे यह नहीं जान पाते कि इस दृश्य जगत में समस्त भौतिक कार्यकलापों के पीछे पूर्म पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण हैं। सामान्य रूप से जब लोग पाप या पुण्यकर्मों में प्रवृत्त रहते हैं, तो उनका भक्ति सम्बन्धी ज्ञान पूर्ण नहीं होता। नारद मुनि ने राजा बर्हिष्मान् से जो रूपक आख्यान कहा वह बद्धजीवों को भक्ति में प्रवृत्त करने के लिए विशेष रूप से कहा गया है। यह सम्पूर्ण आख्यान भक्त द्वारा सरलता से समझ लिया जाता है, किन्तु जो भक्ति के बजाय इन्द्रियतृप्ति में लिप्त रहते हैं, वे इसे ठीक से नहीं समझ पाते। राजा बर्हिष्मान् ने इसे स्वीकार किया है।

यह उन्तीसवाँ अध्याय बताता है कि स्त्रियों के प्रति अत्यधिक आसक्ति से मनुष्य अगले जन्म में स्त्री बनता है, किन्तु जो मनुष्य भगवान् या उसके प्रतिनिधि की संगति करता है, वह समस्त भौतिक आसक्ति से रहित होकर मुक्त हो जाता है।

नारद उवाच

पुरुषं पुरञ्जनं विद्याद्यद्व्यनक्त्यात्मनः पुरम् ।
एकद्वित्रिचतुष्पादं बहुपादमपादकम् ॥ २॥

शब्दार्थ

नारदः उवाच—नारद ने कहा; पुरुषम्—जीव, भोक्ता को; पुरञ्जनम्—राजा पुरञ्जन; विद्यात्—जानना चाहिए; यत्—जिससे; व्यनक्ति—उत्पन्न करता है; आत्मनः—स्वयं का; पुरम्—वासस्थान; एक—एक; द्वि—दो; त्रि—तीन; चतुः-पादम्—चार पैरों वाला, चौपाया; बहु-पादम्—अनेक पैरों वाला; अपादकम्—पाँवहीन।

नारद मुनि ने कहा : तुम जानो कि पुरञ्जन रूपी जीव अपने कर्म के अनुसार विभिन्न रूपों में

देहान्तर करता रहता है, जो एक, दो, तीन, चार या अनेक पाँव वाले या पाँवविहीन हो सकते हैं। इन विभिन्न प्रकार के रूपों में देहान्तर करने वाला जीव तथाकथित भोक्ता के रूप में पुरञ्जन कहा जाता है।

तात्पर्य : आत्मा एक रूप से दूसरे में जिस प्रकार देहान्तर करता है उसका यहा अत्यन्त सुन्दर वर्णन हुआ है। *एकपाद* से भूतों का बोध होता है, क्योंकि यह कहा जाता है कि वे एक पाँव के बल चलते हैं। *द्विपाद* मनुष्य हैं। जब मनुष्य वृद्ध तथा अक्षम हो जाता है, तो वह *त्रिपाद* हो जाता है, क्योंकि वह डंडे या छड़ी के सहारे चलता है। किन्तु *चतुष्पाद* पशुओं के लिए प्रयुक्त है। *बहुपाद* ऐसे प्राणी हैं जिनके चार से अधिक पाँव होते हैं। ऐसे अनेक कीड़े तथा जलचर होते हैं जिनके अनेक पाँव होते हैं। *अपादक* शब्द का अर्थ है पाँवविहीन जो सर्पों के लिए प्रयुक्त है। पुरञ्जन ऐसे व्यक्ति का सूचक है, जो विभिन्न प्रकार के शरीरों को प्राप्त करके भोग करता है। भोग की उसकी यह प्रवृत्ति इस संसार में विभिन्न प्रकार के शरीरों द्वारा प्रदान की जाती है।

योऽविज्ञाताहृतस्तस्य पुरुषस्य सखेश्वरः ।
यन्न विज्ञायते पुम्भिर्नामभिर्वा क्रियागुणैः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

यः—जो; अविज्ञात—अज्ञात; आहृतः—वर्णित; तस्य—उस; पुरुषस्य—जीव का; सखा—चिर मित्र; ईश्वरः—स्वामी; यत्—क्योंकि; न—कभी नहीं; विज्ञायते—जाना जाता है; पुम्भिः—जीवों द्वारा; नामभिः—नामों से; वा—अथवा; क्रिया-गुणैः—कर्मों या गुणों द्वारा।

जिस पुरुष को मैंने अविज्ञात कहा है, वह जीव का स्वामी तथा शाश्वत मित्र परमेश्वर है। चूँकि जीव भगवान् को भौतिक नामों, गुणों या कर्मों द्वारा नहीं जान सकते, फलतः वह बद्धजीव के लिए सदैव अज्ञात रहता है।

तात्पर्य : चूँकि भगवान् बद्धजीव के लिए अज्ञात रहता है, इसलिए वैदिक साहित्य में उसे कभी-कभी निराकार, अविज्ञात या *अवाङ्मनसागोचर* नामों से अभिहित किया जाता है। वास्तव में यह तथ्य है कि जहाँ तक रूप, नाम, गुण, लीलाओं या साज सामान का सम्बन्ध है, भगवान् को भौतिक इन्द्रियों द्वारा नहीं समझा जा सकता। किन्तु जब मनुष्य आध्यात्मिक रूप से जाग्रत होता है, तो वह उसके नाम रूप, गुण इत्यादि सभी समझ सकता है। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (१८.५५) में हुई है—*भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः*—जब कोई भक्ति में लगा होता है तभी वह भगवान् को सत्यरूप

से देख समझ सकता है। पाप तथा पुण्य कर्मों में प्रवृत्त सामान्य पुरुष भगवान् के रूप, नाम तथा कर्मों को नहीं समझ सकते। किन्तु भक्त भगवान् को अनेक प्रकार से जान सकता है। उसे पता है कि श्रीकृष्ण ही भगवान् हैं, उनका पता गोलोक वृन्दावन है और उनके सारे कार्यकलाप आध्यात्मिक हैं। चूँकि भगवान् के रूप तथा कार्यों को भौतिकताग्रस्त लोग नहीं समझ पाते, इसीलिए शास्त्रों में उन्हें निराकार कहा गया है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि भगवान् के कोई रूप नहीं है; इसका अर्थ यह है कि कर्मी उसे समझ नहीं पाते। *ब्रह्म-संहिता* में उनके रूप को *सच्चिदानन्दविग्रह* कहा गया है। *पद्म पुराण* से इसकी पुष्टि होती है—

अत: श्रीकृष्णनामादि न भवेद् ग्राह्यमिन्द्रियै: ।

सेवोन्मुखे हि जिह्वादौ स्वयमेव स्फुरत्यद: ॥

''कोई भी अपनी कुंठित भौतिक इन्द्रियों द्वारा श्रीकृष्ण के असली रूप को नहीं समझ सकता। किन्तु भगवान् भक्तों की दिव्य प्रेमाभक्ति से प्रसन्न होकर भक्तों के समक्ष अपने को स्वयं प्रकट करते हैं।''

चूँकि भौतिक इन्द्रियों द्वारा भगवान् श्रीकृष्ण के नाम, रूप तथा गुण नहीं जाने जा सकते, अत: उन्हें *अधोक्षज* अर्थात् ''भौतिक दृष्टि से परे'' कहा जाता है। जब इन्द्रियाँ भक्तिकार्यों द्वारा शुद्ध हो जाती हैं, तो भक्त भगवान् के विषय में उन्हीं की कृपा से सभी कुछ समझ जाता है। इस श्लोक में *पुम्भिर्नामभिर्वा क्रियागुणै:* पद महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि भगवान् श्रीकृष्ण के अनेक नाम, कार्य तथा गुण हैं, किन्तु इनमें से एक भी भौतिक नहीं है। इस तथ्य के बावजूद भी शास्त्रों में इन नामों, कार्यों तथा लीलाओं का उल्लेख होने तथा भक्तों द्वारा समझे जाने पर भी कर्मी उन्हें नहीं समझ पाते और न ज्ञानी ही। यद्यपि भगवान् विष्णु के हजारों नाम हैं, किन्तु कर्मी तथा ज्ञानी भगवान् के नामों के साथ देवों तथा मनुष्यों के नाम मिलाते रहते हैं। चूँकि वे भगवान् के वास्तविक नाम को नहीं समझते, अत: वे यह मानकर चलते हैं कि उन्हें कोई भी नाम दिया जा सकता है। उनका विश्वास है कि परमेश्वर निराकार है, अत: वे उसे किसी भी नाम से पुकार सकते हैं, अन्यथा वे यह मानते हैं कि उसका कोई नाम नहीं है। किन्तु यह सत्य नहीं है। यहाँ स्पष्ट कहा गया है—*नामभिर्वा क्रियागुणै: ।* भगवान् के विशेष नाम हैं—यथा राम, कृष्ण, गोविन्द, नारायण, विष्णु तथा अधोक्षज। निस्सन्देह, नाम तो अनेक हैं, किन्तु बद्धजीव

उन्हें समझ नहीं पाता।

यदा जिघृक्षन्पुरुषः कार्त्स्न्येन प्रकृतेर्गुणान् ।
नवद्वारं द्विहस्ताङ्घ्रि तत्रामनुत साध्विति ॥ ४॥

शब्दार्थ

यदा—जब; जिघृक्षन्—भोगने की इच्छा से; पुरुषः—जीव; कार्त्स्न्येन—समग्र रूप में; प्रकृतेः—प्रकृति का; गुणान्—गुण; नव-द्वारम्—नौ द्वारों वाला; द्वि—दो; हस्त—हाथ; अङ्घ्रि—पाँव; तत्र—वहाँ; अमनुत—उसने सोचा; साधु—उत्तम; इति—इस प्रकार।

जब जीव समग्ररूप से प्रकृति के गुणों का भोग करने की इच्छा करता है, तो वह अनेक शारीरिक रूपों में से उस शरीर को चुनता है, जिसमें नौ द्वार, दो हाथ तथा दो पाँव होते हैं। इस प्रकार वह मनुष्य या देवता बनना श्रेयस्कर मानता है।

तात्पर्य : इस बात की यहाँ पर उत्तम व्याख्या प्रस्तुत की गई है कि किस प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण का अंश रूप आध्यात्मिक जीव अपनी इच्छा से भौतिक देह स्वीकार करता है। दो हाथ, दो पाँव इत्यादि स्वीकार करके जीव प्रकृति के गुणों का भरपूर भोग करता है। भगवान् श्रीकृष्ण *भगवद्गीता* (७.२७) में कहते हैं—

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।
सर्वभूतानि सम्मोहं सर्गे यान्ति परन्तप॥

"हे भारत (अर्जुन), हे शत्रुओं के विजेता! सभी जीव मोहवश उत्पन्न हैं और इच्छा तथा घृणा के द्वन्द्व द्वारा परास्त होते हैं।"

मूलतः जीव आध्यात्मिक प्राणी है, किन्तु जब वह वास्तव में भौतिक जगत का भोग करना चाहता है, तो वह नीचे उतरता है। इस श्लोक से पता चलता है कि जीव पहले मनुष्य शरीर धारण करता है, किन्तु अपने अधम कार्यों के कारण वह धीरे धीरे निम्न योनियों में—पशु, वृक्ष, जलचर रूपों में—गिरता रहता है। विकास की क्रमिक क्रिया से जीव को पुनः मनुष्य का शरीर प्राप्त होता है और उसे एक और अवसर दिया जाता है कि वह देहान्तर-चक्र से उबर सके। किन्तु यदि वह अपनी स्थिति को समझने का अवसर फिर हाथ से जाने देता है, तो वह पुनः विभिन्न शरीरों में जन्म तथा मृत्यु के चक्र में पड़ जाता है।

जीव इस भौतिक जगत में क्यों आना चाहता है, इसे समझना कठिन नहीं है। आर्य परिवार में,

जहाँ मांसाहार, मद्यपान, द्यूत, यौनाचार इत्यादि पर प्रतिबन्ध है, जन्म लेकर भी लोग इन वर्जित वस्तुओं का भोग करना चाहते हैं। कोई न कोई ऐसा मिल ही जायगा जो अवैध यौनाचार के लिए वेश्या के यहाँ जाना चाहता है या होटल में जाकर मांस खाना तथा मद्यपान करना चाहता है। कोई-न-कोई ऐसा मिल जायेगा जो रात्रि क्लबों में जाकर जुआ खेलना या ऐसी ही तथाकथित क्रियाओं पसन्द करता है। ये इच्छाएँ जीवों के अन्त:करण में पहले से विद्यमान रहती हैं, किन्तु कुछ जीव इन घृणित कार्यों को भोगने में लग जाते हैं; फलत: वे गिर कर निम्न पद पर आ जाते हैं। जो जीव जितना ही पतित जीवन की अभिलाषा करता है, वह उतना ही कुत्सित रूप धारण करने के लिए नीचे गिरता जाता है। यह देहान्तरण तथा विकास की प्रक्रिया है। कोई पशु-विशेष किसी एक इन्द्रिय सुख की प्रबल भावना से युक्त हो सकता है, किन्तु मनुष्य तो सभी इन्द्रियों का भोग कर सकता है। जब तक समुचित शिक्षा नहीं दी जाती वह प्रकृति के गुणों का शिकार होता रहता है, जिसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (३.२७) में की गई है—

प्रकृते: क्रियमाणानि गुणै: कर्माणि सर्वश:।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥

"मोहग्रस्त जीव प्रकृति के तीन गुणों के वशीभूत होकर अपने आपको उन कर्मों का कर्ता मान बैठता है, जो वास्तव में प्रकृति द्वारा सम्पन्न होते हैं।" जैसे ही मनुष्य अपनी इन्द्रियों का भोग करना चाहता है, वह अपने को प्रकृति के अधीन बना लेता है और स्वत: जन्म-मृत्यु के चक्र में आ पड़ता है।

बुद्धिं तु प्रमदां विद्यान्ममाहमिति यत्कृतम् ।
यामधिष्ठाय देहेऽस्मिन्पुमान्भुङ्क्ते ऽक्षभिर्गुणान् ॥ ५॥

शब्दार्थ

बुद्धिम्—बुद्धि; तु—तब; प्रमदाम्—तरुणी स्त्री (पुरञ्जनी) को; विद्यात्—जानना चाहिए; मम—मेरा; अहम्—मैं; इति—इस प्रकार; यत्-कृतम्—बुद्धि द्वारा सम्पन्न; याम्—जो बुद्धि; अधिष्ठाय—शरण ग्रहण करके; देहे—शरीर में; अस्मिन्—इस; पुमान्—जीव; भुङ्क्ते —भोगता है (कष्ट उठाता तथा सुख पाता है); अक्षभि:—इन्द्रियों से; गुणान्—प्रकृति के तीन गुण।

नारद मुनि ने आगे कहा : इस प्रसंग में उल्लिखित प्रमदा शब्द भौतिक बुद्धि या अविद्या के लिए प्रयुक्त है। इसे इसी रूप में समझो। जब मनुष्य ऐसी बुद्धि का आश्रय ग्रहण करता है, तो वह अपने को शरीर समझ बैठता है। "मैं" तथा "मेरी" की भौतिक बुद्धि से प्रभावित होकर

वह अपनी इन्द्रियों से दुख तथा सुख का अनुभव करने लगता है। इस प्रकार जीव बन्धन में पड़ जाता है।

तात्पर्य : इस भौतिक संसार में तथाकथित बुद्धि वास्तव में अविद्या है। बुद्धि के विमल होने पर इसे *बुद्धियोग* कहते हैं। दूसरे शब्दों में, जब बुद्धि भगवान् कृष्ण के इच्छाधीन हो जाती है, तो वह *बुद्धियोग* या भक्तियोग कहलाती है। अत: *भगवद्गीता* (१०.१०) में श्रीकृष्ण कहते हैं—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।

ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

''जो लोग मेरी सतत भक्ति करते तथा प्रेमपूर्वक मेरी पूजा करते हैं, उन्हें मैं बुद्धि प्रदान करता हूँ जिससे वे मेरे पास आ सकते हैं।''

वास्तविक बुद्धि का अर्थ है भगवान् से जुड़ना। जब ऐसा हो जाता है, तो भगवान् अन्त:करण से वास्तविक बुद्धि प्रदान करते रहते हैं जिससे मनुष्य भगवान् के धाम को वापस जा सकता है। इस श्लोक में भौतिक बुद्धि को *प्रमदा* के रूप में वर्णन किया गया है, क्योंकि इस संसार में जीव झूठे ही वस्तुओं को अपनी कहता है। वह सोचता है कि मैं एक-छत्र राजा हूँ। यह अविद्या है। वास्तव में उसका कुछ नहीं होता। यहाँ तक कि शरीर तथा इन्द्रियाँ भी उसकी नहीं होती, क्योंकि ये उसे भगवान् की प्रेरणा से प्रकृति द्वारा उसकी विभिन्न इच्छाओं की पूर्ति के लिए प्रदत्त हैं। वास्तव में जीव का कुछ भी नहीं है, किन्तु वह प्रत्येक वस्तु के पीछे पगलाया रहता है और कहता है, ''यह मेरी है, यह मेरी है, यह मेरी है।'' *जनस्य मोहोऽयम् अहं ममेति।* यही मोह है। जीव का कुछ भी नहीं है, किन्तु वह हर वस्तु को अपनी बताता है। भगवान् चैतन्य महाप्रभु संस्तुति करते हैं कि इस मिथ्या बुद्धि को मार्जित करना चाहिए (*चेतो-दर्पण-मार्जनम्*)। जब बुद्धि रूपी दर्पण चमकने लगता है, तो जीव के असली कार्य प्रारम्भ होते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि जब मनुष्य कृष्णचेतना को प्राप्त होता है, तो उसकी असली बुद्धि कार्य करती है। उस समय उसे ज्ञान होता है कि प्रत्येक वस्तु तो श्रीकृष्ण की है, मेरी नहीं। जब तक मनुष्य हर वस्तु को अपनी मानता है तब तक वह भौतिक चेतना में रहता है और जब वह पूरी तरह समझ जाता है कि हर वस्तु श्रीकृष्ण की है, तो वह कृष्णचेतना को प्राप्त कर लेता है।

सखाय इन्द्रियगणा ज्ञानं कर्म च यत्कृतम् ।
सख्यस्तद्वृत्तय: प्राण: पञ्चवृत्तिर्यथोरग: ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

सखाय:—मित्र; इन्द्रिय-गणा:—सारी इन्द्रियाँ; ज्ञानम्—ज्ञान; कर्म—कार्य; च—भी; यत्-कृतम्—इन्द्रियों द्वारा किया हुआ; सख्य:—सखियाँ; तत्—इन्द्रियों की; वृत्तय:—व्यापार; प्राण:—प्राणवायु; पञ्च-वृत्ति:—पाँच प्रकार की वृत्तियों वाला; यथा—जिस प्रकार; उरग:—सर्प।

पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ तथा पाँचों कर्मेन्द्रियाँ पुरञ्जनी के नर मित्र हैं। जीव को इन इन्द्रियों द्वारा ज्ञान प्राप्त करने तथा कार्य में प्रवृत्त होने में सहायता मिलती है। इन्द्रियों के व्यापार उसकी सखियाँ हैं और वह सर्प जिसे पाँच फनों वाला बताया गया है, पाँच प्रकार की क्रियाओं के भीतर कार्यशील प्राणवायु है।

तात्पर्य : कृष्ण-बहिर्मुख हञा भोग वाञ्छा करे।

निकटस्थ माया तारे जापटिया धरे॥

(*प्रेम-विवर्त*)

भौतिक जगत को भोगने की इच्छा से जीव स्थूल तथा सूक्ष्म देहें ओढ़े हुए रहता है। इस तरह उसे इन्द्रियों को भोगने का अवसर प्रदान किया जाता है। अत: वे इन्द्रियाँ भौतिक जगत को भोगने की साधन हैं। फलत: इन्द्रियों को मित्र कहा गया है। कभी-कभी अत्यधिक पापकर्म करने से जीव को स्थूल शरीर नहीं मिल पाता, अत: वह सूक्ष्म रूप में मँडराता रहता है। यह प्रेत-जीवन है। स्थूल शरीर न प्राप्त कर पाने से वह इस सूक्ष्म शरीर से अनेक कष्ट प्रदान करता है। अत: जो लोग स्थूल शरीर में रह रहे हैं, उनके लिए भूत-प्रेत की उपस्थिति अत्यन्त भयावह है। *भगवद्गीता* (१५.१०) में उल्लेख है—

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम्।

विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुष: ॥

''मूर्ख व्यक्ति न तो यह समझ सकता है कि जीव अपने शरीर को कैसे छोड़ता है, न यही कि प्रकृति के गुणों के अधीन वह किस तरह के शरीर का भोग करता है। किन्तु जिनकी आँखों को ज्ञान का प्रशिक्षण प्राप्त है, वे यह सब देख सकते हैं।''

जीव प्राणवायु में समाहित है, जो संचरण के लिए विभिन्न प्रकार से कार्य करती है। चूँकि

प्राणवायु—प्राण, अपान, उदान, व्यान तथा समान—पाँच प्रकार से कार्य करती है, अत: इसकी तुलना पाँच फनों वाले सर्प से की गई है। कुण्डलिनी चक्र से होकर आत्मा सर्प की भाँति रेंगता है। प्राणवायु की तुलना उरग सर्प से की जाती है। *पञ्चवृत्ति* पाँचों इन्द्रियविषयों रूप, स्वाद, ध्वनि, गंध एवं स्पर्श के द्वारा आकृष्ट इन्द्रियों की तुष्टि की इच्छा है।

बृहद्बलं मनो विद्यादुभयेन्द्रियनायकम् ।
पञ्चालाः पञ्च विषया यन्मध्ये नवखं पुरम् ॥ ७॥

शब्दार्थ

बृहत्-बलम्—अत्यन्त शक्तिशाली; मनः—मन; विद्यात्—जानना चाहिए; उभय-इन्द्रिय—ज्ञान तथा कर्म दोनों प्रकार की इन्द्रियाँ; नायकम्—नेता; पञ्चालाः—पञ्चाल नामक राज्य; पञ्च—पाँच; विषयाः—इन्द्रिय पदार्थ; यत्—जिसके; मध्ये—बीच में; नव-खम्—नव छिद्रों वाली; पुरम्—नगरी।

ग्यारहवाँ सेवक, जो अन्यों का नायक है, मन कहलाता है। वह कर्मेन्द्रियों तथा ज्ञानेन्द्रियों—इन दोनों का नायक है। पञ्चाल राज्य वह वातावरण है, जिसमें पाँच इन्द्रिय-पदार्थों (विषयों) का भोग किया जाता है। इस पञ्चाल राज्य के भीतर शरीर रूपी नगरी है, जिसमें नौ द्वार (छिद्र) हैं।

तात्पर्य : मन समस्त कार्यों का केन्द्रविन्दु है, जिसे *बृहद्बल* कहा गया है। माया के चंगुल से निकलने के लिए मनुष्य को मन पर नियंत्रण रखना होता है। प्रशिक्षण के अनुसार मन जीव का मित्र है और शत्रु भी। यदि किसी को अच्छा प्रबन्धक मिल जाता है, तो उसकी जायदाद की व्यवस्था ठीक से होती है, किन्तु यदि प्रबन्धक चोर हुआ तो सारी जायदाद तहस-नहस हो जाती है। इसी प्रकार जीव अपनी भौतिक बद्ध अवस्था में अपने कार्या-धिकार अपने मन को सौंप देता है। फलस्वरूप विषयों के भोगने में वह मन द्वारा विभ्रमित किया जा सकता है। अत: श्रील अम्बरीष महाराज ने अपने मन को पहले भगवान् के चरणकमलों में लगाया। *स वै मन: कृष्णपदारविन्दयो: ।* जब मन भगवान् के चरणकमलों के ध्यान में संलग्न रहता है, तो इन्द्रियाँ वश में रहती हैं। नियंत्रण की यह पद्धति *यम* कहलाती है, जिसका अर्थ है, "इन्द्रियों का नियमन।" जो व्यक्ति अपनी इन्द्रियों को वश में कर लेता है, वह *गोस्वामी* कहलाता है किन्तु जो उनको वश में नहीं कर पाता वह *गोदास* कहलाता है। मन इन्द्रियों के कार्यों का निर्देशन करता है, जो विभिन्न छिद्रों द्वारा व्यक्त होते हैं जिसका वर्णन अगले श्लोक में हुआ है।

अक्षिणी नासिके कर्णौ मुखं शिश्नगुदाविति ।
द्वे द्वे द्वारौ बहिर्याति यस्तदिन्द्रियसंयुतः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

अक्षिणी—दो आँखें; नासिके—दो नथुने; कर्णौ—दो कान; मुखम्—मुँह; शिश्न—लिंग; गुदौ—तथा मलद्वार; इति—इस प्रकार; द्वे—दो; द्वे—दो; द्वारौ—द्वार; बहिः—बाहर; याति—जाता है; यः—जो; तत्—द्वारों से होकर; इन्द्रिय—इन्द्रियों के द्वारा; संयुतः—साथ-साथ।

आँखें, नथुने तथा कान—इन द्वारों की जोड़ियाँ एक स्थान पर स्थित हैं। मुँह, शिश्न तथा गुदा भी अन्य द्वार हैं। इन नौ द्वारों वाले शरीर में स्थित होकर जीव बाह्यतः भौतिक जगत में कार्य करता है और रूप तथा स्वाद जैसे इन्द्रियविषयों का भोग करता है।

तात्पर्य : अपनी आध्यात्मिक स्थिति से अवगत न रहते हुए जीव मन के द्वारा निर्देशित होकर इन नौ द्वारों से भौतिक वस्तुओं का भोग करने बाहर जाता है। इन भौतिक वस्तुओं के साथ अपने दीर्घ सम्पर्क के कारण वह अपने वास्तविक आध्यात्मिक कार्यों को भूल जाता है और इस तरह दिग्भ्रमित हो जाता है। सारा संसार तथाकथित वैज्ञानियों तथा विचारकों के नेतृत्व में दिग्भ्रमित हो रहा है। जिन्हें आत्मा का कोई ज्ञान नहीं है। इस प्रकार बद्धजीव अधिकाधिक फँसता जाता है।

अक्षिणी नासिके आस्यमिति पञ्च पुरः कृताः
दक्षिणा दक्षिणः कर्ण उत्तरा चोत्तरः स्मृतः ।
पश्चिमे इत्यधो द्वारौ गुदं शिश्नमिहोच्यते ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

अक्षिणी—दो नेत्र; नासिके—दो नथुने; आस्यम्—मुँह; इति—इस प्रकार; पञ्च—पाँच; पुरः—सामने; कृताः—निर्मित; दक्षिणा—दक्षिणी द्वार; दक्षिणः—दाहिना; कर्णः—कान; उत्तरा—उत्तरी द्वार; च—भी; उत्तरः—बायाँ कान; स्मृतः—जाना हुआ; पश्चिमे—पश्चिम दिशा में; इति—इस प्रकार; अधः—नीचे; द्वारौ—दो द्वार; गुदम्—मलद्वार; शिश्नम्—लिंग (पुरुष की इन्द्रिय); इह—यहाँ; उच्यते—कहा जाता है।

दो आँखें, दो नथुने तथा मुँह ये पाँचों सामने स्थित हैं। दाहिना कान दक्षिणी द्वार है और बायाँ कान उत्तरी द्वार। पश्चिम की ओर स्थित दो छिद्र या द्वार गुदा तथा शिश्न कहलाते हैं।

तात्पर्य : समस्त दिशाओं में से पूर्व दिशा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि सूर्य उधर से उदय होता है। इस प्रकार पूर्वी दिशा के द्वार—आँखें, नाक तथा मुँह—शरीर के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण द्वार हैं।

खद्योताविर्मुखी चात्र नेत्रे एकत्र निर्मिते ।

रूपं विभ्राजितं ताभ्यां विचष्टे चक्षुषेश्वरः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

खद्योता—खद्योत नामक; आविर्मुखी—आविर्मुखी नामक; च—भी; अत्र—यहाँ; नेत्रे—दो आँखें; एकत्र—एक स्थान पर; निर्मिते—निर्मित; रूपम्—रूप; विभ्राजितम्—विभ्राजित (चमकीला) नामक; ताभ्याम्—आखों से होकर; विचष्टे—देखते हैं; चक्षुषा—नेत्रों से; ईश्वरः—स्वामी।

खद्योत तथा आविर्मुखी नाम से जिन दो द्वारों का वर्णन किया गया है वे एक ही स्थान पर अगल-बगल स्थित दो नेत्र हैं। विभ्राजित नामक नगरी को रूप समझना चाहिए। इस प्रकार दोनों नेत्र सदैव विभिन्न प्रकार के रूपों को देखने में व्यस्त रहते हैं।

तात्पर्य : दोनों नेत्र प्रकाश जैसे चमकीले पदार्थों से आकर्षित होते हैं। कभी-कभी हम देखते हैं कि छोटे-छोटे कीड़े अग्नि के प्रकाश से आकर्षित होकर उसमें प्रविष्ट हो जाते हैं। इसी प्रकार जीव के दोनों नेत्र चमकीले तथा सुन्दर रूपों के प्रति आकृष्ट होते हैं। वे उनमें उसी प्रकार फँस जाते हैं, जिस प्रकार अग्नि से आकर्षित होकर कीड़े।

नलिनी नालिनी नासे गन्धः सौरभ उच्यते ।
घ्राणोऽवधूतो मुख्यास्यं विपणो वाग्रसविद्रसः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

नलिनी—नलिनी नामक; नालिनी—नालिनी नामक; नासे—दोनों नथुने; गन्धः—सुगन्धित; सौरभः—सौरभ (सुगन्ध); उच्यते—कहलाता है; घ्राणः—गंध की इन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय; अवधूतः—अवधूत नामक; मुख्या—मुख्या नामक(प्रमुख); आस्यम्—मुँह; विपणः—विपण नामक; वाक्—वाणी; रस-वित्—रसज्ञ, स्वाद लेने में पटु; रसः—स्वाद की इन्द्रिय (जीभ)।

नलिनी तथा नालिनी नामक दोनों द्वार दो नासाछिद्र (नथुने) हैं और सुगन्ध को सौरभ नामक नगरी ही कहा गया है। अवधूत नामक मित्र घ्राणेन्द्रिय है। मुख्या नामक द्वार मुख है और विपण वाक्शक्ति है। रसज्ञ ही स्वाद की इन्द्रिय (जीभ) है।

तात्पर्य : *अवधूत* शब्द का अर्थ है "सर्वथा मुक्त।" अवधूत अवस्था प्राप्त कर लेने पर मनुष्य किसी प्रकार के यम-नियमों द्वारा प्रतिबन्धित नहीं होता। दूसरे शब्दों में, वह जिस तरह चाहे कार्य कर सकता है। यह अवधूत अवस्था वायु की भाँति है, जो किसी प्रकार के अवरोध की परवाह नहीं करती। *भगवद्गीता* (६.३४) में कहा गया है—

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम्।

तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥

"हे कृष्ण! यह मन अस्थिर, मथने वाला जिद्दी तथा अत्यन्त बलिष्ठ है और मेरी समझ में इसको वश में करना वायु को वश में करने से भी अधिक कठिन है।"

जिस प्रकार वायु किसी के रोके नहीं रुकती, उसी प्रकार दोनों नथुने एक ही स्थान पर स्थित होकर बिना अवरोध के गन्ध का अनुभव करते रहते हैं। जीभ के होने से मुँह सभी प्रकार के स्वादिष्ट व्यंजनों का निरन्तर स्वाद लेता रहता है।

आपणो व्यवहारोऽत्र चित्रमन्धो बहूदनम् ।
पितृहूर्दक्षिणः कर्ण उत्तरो देवहूः स्मृतः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

आपणः—आपण नामक; व्यवहारः—जीभ का कार्य; अत्र—यहाँ; चित्रम्—सभी प्रकार के; अन्धः—खाद्य; बहूदनम्—बहूदन नामक; पितृ-हूः—पितृहू नामक; दक्षिणः—दाहिना; कर्णः—कान; उत्तरः—बायाँ; देव-हूः—देवहू; स्मृतः—कहलाता है।.

आपण नामक नगरी जीभ के बोलने के कार्य की सूचक है और बहूदन तरह-तरह के व्यंजनों का सूचक है। दायाँ कान पितृहू द्वार कहलाता है और बायाँ कान देवहू द्वार।

प्रवृत्तं च निवृत्तं च शास्त्रं पञ्चालसंज्ञितम् ।
पितृयानं देवयानं श्रोत्राच्छ्रुतधराद्व्रजेत् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

प्रवृत्तम्—इन्द्रिय भोग की विधि; च—भी; निवृत्तम्—विरक्ति की विधि; च—भी; शास्त्रम्—शास्त्र; पञ्चाल—पंचाल; संज्ञितम्—के नाम से अभिहित, नामक; पितृ-यानम्—पितृलोक को जाते हुए; देव-यानम्—देवलोक को जाते हुए; श्रोत्रात्—सुनकर; श्रुत-धरात्—श्रुतधर नामक संगी से; व्रजेत्—ऊपर उठाया जा सकता है।.

नारद मुनि ने आगे कहा : दक्षिण पञ्चाल कही जाने वाली नगरी सकाम कर्म में भोग की विधि अर्थात् प्रवृत्ति-मार्ग को बताने वाले शास्त्रों की सूचक है। उत्तर पञ्चाल नामक अन्य नगरी निवृत्ति मार्ग—सकाम कर्म को घटाने तथा ज्ञान को बढ़ाने वाला मार्ग—बताने वाले शास्त्रों के लिए प्रयुक्त है। जीव को ज्ञान की प्राप्ति दो कानों द्वारा होती है और कुछ लोग पितृलोक तथा कुछ देवलोक को जाते हैं। यह सब दोनों कानों द्वारा सम्भव होता है।

तात्पर्य : वेदों को *श्रुति* कहते हैं और कानों के द्वारा उनसे प्राप्त ज्ञान *श्रुतधर* कहलाता है। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है, मनुष्य केवल श्रवण करने से देवलोक या पितृलोक, यहाँ तक कि वैकुण्ठलोक, को जाते हैं। इन सब की व्याख्या पिछले अध्यायों में की जा चुकी है।

आसुरी मेढ्रमर्वाग्द्वार्व्यवायो ग्रामिणां रतिः ।
उपस्थो दुर्मदः प्रोक्तो निरृतिर्गुद उच्यते ॥ १४॥

शब्दार्थ

आसुरी—आसुरी नामक; मेढ्रम्—शिश्न (लिंग); अर्वाक्—मूर्खों तथा उचक्कों का; द्वाः—द्वार; व्यवायः—स्त्री-प्रसंग करने के लिए; ग्रामिणाम्—सामान्य पुरुषों की; रतिः—आसक्ति; उपस्थः—प्रजननेन्द्रिय; दुर्मदः—दुर्मद; प्रोक्तः—कहलाती है; निरृतिः—निर्ऋति; गुदः—गुदा; उच्यते—कहलाती है।

ग्रामक नामक पुरी, जहाँ निचले आसुरी द्वार (शिश्न) से पहुँचा जाता है, स्त्री-संभोग के लिए है जो उन सामान्य पुरुषों के लिए अत्यन्त मोहक है जो निरे मूर्ख एवं धूर्त हैं। जननेन्द्रिय दुर्मद कहलाती है और गुदा निर्ऋति कहलाती है।

तात्पर्य : जब संसार का अघः पतन होता है, तो सभ्यता आसुरी हो जाती है और सामान्य लोग अत्यन्त गम्भीरता से गुदा तथा शिश्न को समस्त कार्यों का केन्द्रबिन्दु मान बैठते हैं। यहाँ तक कि वृन्दावन जैसे पवित्र स्थान के लोग भी गुदा तथा शिश्न-व्यापार को आध्यात्मिक कर्म मानते हैं। ऐसे लोग सहजिया कहलाते हैं। उनकी विचारधारा के अनुसार संभोग-क्रिया में रत रहकर लोग आध्यात्मिक पद प्राप्त कर सकते हैं। किन्तु *श्रीमद्भागवत* के इन श्लोकों से यह प्रकट है कि संभोग-तुष्टि की इच्छा तो निम्न लोगों—*अर्वाक्*—के लिए है। ऐसे मूर्खों को रास्ते पर लाना कठिन है। इन श्लोकों में निम्न लोगों की कामवासना की भर्त्सना की गई है। *दुर्मद* शब्द का अर्थ "कुनिर्देशित" और *निर्ऋति* का अर्थ "पापकर्म" हैं। यद्यपि इससे स्पष्ट है कि सामान्य दृष्टि से भी कामासक्ति गर्हित और दु:लक्षित है फिर भी 'सहजिया' अपने को आध्यात्मिक कर्मों में रत भक्त मानते हैं। फलतः कोई भी बुद्धिमान व्यक्ति अब वृन्दावन नहीं जाता। कभी-कभी हमसे पूछा जाता है कि आखिर हमने वृन्दावन को क्यों अपना केन्द्र बनाया? ऊपरी तौर से यह निष्कर्ष निकलता है कि इन सहजिया लोगों के कार्य-कलापों से वृन्दावन पतित हो चुका है, फिर भी आध्यात्मिक दृष्टि से वृन्दावन ही ऐसा स्थान है जहाँ ये समस्त पापी पुरुष कुत्तों, सुअरों तथा बन्दरों का जन्म लेकर उबरते हैं। वृन्दावन में ऐसी योनि में रहकर अगले जन्म में ये सब आध्यात्मिक पद प्राप्त कर सकते हैं।

वैशसं नरकं पायुर्लुब्धकोऽन्धौ तु मे शृणु ।
हस्तपादौ पुमांस्ताभ्यां युक्तो याति करोति च ॥ १५॥

शब्दार्थ

वैशसम्—वैशस नामक; नरकम्—नरक; पायुः—गुदा नामक कर्मेन्द्रिय; लुब्धकः—लुब्धक (अत्यन्त लालची) नामक; अन्धौ—अन्धा; तु—तब; मे—मुझसे; शृणु—सुनो; हस्त-पादौ—हाथ तथा पाँव; पुमान्—जीव; ताभ्याम्—उनके साथ; युक्तः—लगा हुआ; याति—जाता है; करोति—करता है; च—तथा।.

जब यह कहा जाता है कि पुरञ्जन वैशस जाता है, तो उसका अर्थ है कि वह नरक जाता है। उसके साथ लुब्धक रहता है, जो गुदा नामक कर्मेन्द्रिय है। इसके पूर्व मैंने दो अंधे साथियों का भी उल्लेख किया था। इन्हें हाथ तथा पाँव समझना चाहिए। जीव हाथ तथा पाँव की सहायता से सभी प्रकार के कार्य करता और इधर-उधर जाता है।

अन्तःपुरं च हृदयं विषूचिर्मन उच्यते ।
तत्र मोहं प्रसादं वा हर्षं प्राप्नोति तद्गुणैः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

अन्तः-पुरम्—रनिवास; च—तथा; हृदयम्—हृदय; विषूचिः—विषूचिन् नामक दास; मनः—मन; उच्यते—कहलाता है; तत्र—वहाँ; मोहम्—मोह; प्रसादम्—सन्तोष; वा—अथवा; हर्षम्—हर्ष; प्राप्नोति—प्राप्त करता है; तत्—मन का; गुणैः—प्रकृति के गुणों द्वारा।.

अन्तःपुर हृदय का सूचक है। विषूचिन् (सर्वत्र जाते हुए) मन को बताने वाला है। जीव मन के भीतर प्रकृति के गुणों का भोग करता है। ये सारे प्रभाव कभी मोह उत्पन्न करते हैं, तो कभी सन्तोष तथा उल्लास।

तात्पर्य : इस संसार में जीव का मन तथा बुद्धि प्रकृति के गुणों द्वारा प्रभावित होते रहते हैं और इन गुणों की संगति के अनुसार मन इधर-उधर जाने का आदी हो जाता है। उसी के अनुसार हृदय संतोष, उल्लास या मोह का अनुभव करता है। वास्तव में जीव निष्क्रिय रहता है। प्रकृति के गुण ही मन तथा हृदय पर कार्य करते हैं और जीव उनके फलों का भोग करता है। *श्रीमद्भागवत* (३.२७) में स्पष्ट कहा गया है—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥

"मोहग्रस्त आत्मा प्रकृति के तीनों गुणों के वश में होकर अपने को समस्त कर्मों का कर्त्ता मानता है, जब कि वास्तव में वे प्रकृति द्वारा सम्पन्न होते हैं।"

यथा यथा विक्रियते गुणाक्तो विकरोति वा ।

तथा तथोपद्रष्टात्मा तद्वृत्तीरनुकार्यते ॥ १७॥

शब्दार्थ

यथा यथा—जिस जिस प्रकार; विक्रियते—विक्षुब्ध होती है; गुण-अक्त:—गुणों से लिप्त; विकरोति—जैसा करती है; वा—अथवा; तथा तथा—उसी उसी प्रकार; उपद्रष्टा—दर्शक; आत्मा—आत्मा; तत्—बुद्धि का; वृत्तीः—व्यापार; अनुकार्यते—अनुकरण करता है।

पहले यह बताया जा चुका है कि रानी मनुष्य की बुद्धि है। सोते समय या जागते हुए बुद्धि विभिन्न परिस्थितियाँ उत्पन्न करती है। दूषित बुद्धि के कारण जीव कुछ सोचता है और अपनी बुद्धि के कार्य-कारणों का केवल अनुकरण करता है।

तात्पर्य : राजा पुरञ्जन की रानी को यहाँ पर साक्षात् बुद्धि कहा गया है। बुद्धि स्वप्न तथा जाग्रत दोनों ही अवस्थाओं में क्रियाशील रहती है, किन्तु यह प्रकृति के गुणों द्वारा दूषित हो जाती है। बुद्धि के दूषित होने से जीव भी दूषित हो जाता है। बद्ध अवस्था में जीव अपनी दूषित बुद्धि के अनुसार ही कार्य करता है। यद्यपि वह मात्र दर्शक बना रहता है, फिर भी दूषित बुद्धि द्वारा बाध्य होकर वह कार्य करता है, किन्तु वह रहता है अप्रत्यक्ष कर्ता के रूप में ही।

देहो रथस्त्विन्द्रियाश्वः संवत्सररयोऽगतिः ।
द्विकर्मचक्रस्त्रिगुणध्वजः पञ्चासुबन्धुरः ॥ १८॥
मनोरश्मिर्बुद्धिसूतो हृन्नीडो द्वन्द्वकूबरः ।
पञ्चेन्द्रियार्थप्रक्षेपः सप्तधातुवरूथकः ॥ १९॥
आकूतिर्विक्रमो बाह्यो मृगतृष्णां प्रधावति ।
एकादशेन्द्रियचमूः पञ्चसूनाविनोदकृत् ॥ २०॥

शब्दार्थ

देहः—शरीर; रथः—रथ; तु—लेकिन; इन्द्रिय—ज्ञानेन्द्रियाँ; अश्वः—घोड़े; संवत्सर—समग्र वर्ष; रयः—जीवन अवधि, आयु; अगतिः—गतिहीन; द्वि—दो; कर्म—कर्म; चक्रः—पहिए; त्रि—तीन; गुण—प्रकृति के गुण; ध्वजः—पताकाएँ; पञ्च—पाँच; असु—प्राण; बन्धुरः—बन्धन; मनः—मन; रश्मिः—रज्जु; बुद्धि—बुद्धि; सूतः—रथ चलाने वाला, सारथी; हृत्—हृदय; नीडः—बैठने का स्थान; द्वन्द्व—द्वैतभाव; कूबरः—जुए; पञ्च—पाँच; इन्द्रिय-अर्थ—इन्द्रिय विषय; प्रक्षेपः—आयुध; सप्त—सात; धातु—तत्त्व; वरूथकः—आवरण; आकूतिः—कर्मेन्द्रियों के प्रयास; विक्रमः—शौर्य; बाह्यः—बाहरी; मृग-तृष्णाम्—झूठी महत्त्वाकांक्षा; प्रधावति—पीछे-पीछे दौड़ता है; एकादश—ग्यारह; इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; चमूः—सैनिक; पञ्च—पाँच; सूना—ईर्ष्या; विनोद—हर्ष, विलास; कृत्—कार्य।

नारद मुनि ने आगे कहा : जिसे मैंने रथ कहा था, वह वास्तव में शरीर है। इन्द्रियाँ ही वे घोड़े हैं, जो रथ को खींचते हैं। ज्यों-ज्यों वर्षानुवर्ष समय बीतता जाता है, ये घोड़े बिना किसी अवरोध के दौते हैं, किन्तु वास्तव में वे कोई प्रगति नहीं कर पाते। पाप तथा पुण्य इस रथ के दो पहिए हैं। प्रकृति के तीनों गुण इस रथ की ध्वजाएँ हैं। पाँच प्रकार के प्राण जीव के बन्धन बनते

हैं और मन को रस्सी (रज्जु) माना जाता है। बुद्धि इस रथ का सारथी है। हृदय रथ में बैठने का स्थान है और हर्ष तथा पीड़ा जैसे द्वन्द्व जुए हैं। सातों तत्त्व (धातुएँ) इस रथ के ओहार (आवरण) हैं, पाँचों कर्मेन्द्रियाँ उसकी पाँच प्रकार की बाह्य गतियाँ हैं और ग्यारहों इन्द्रियाँ सैनिक हैं। इन्द्रिय-सुख में मग्न रहने के कारण रथ पर आसीन जीव झूठी अभिलाषाओं को पूरा करने के लिए इतराता है और जन्म-जन्मांतर तक इन्द्रियसुख के पीछे दौड़ता रहता है।

तात्पर्य : इन श्लोकों में इन्द्रिय-सुख में जीव की लिप्तता का अत्यन्त सुन्दर ढंग से वर्णन हुआ है। *संवत्सर* शब्द महत्त्वपूर्ण है। जीव दिन-प्रतिदिन, सप्ताह-प्रति सप्ताह, पाख-प्रति पाख, मास-प्रति मास, वर्ष-प्रति वर्ष रथ की प्रगति में उलझता जाता है। यह रथ दो पहियों पर टिका है, जो पाप कर्म तथा पुण्य कर्म हैं। जीव अपने पाप तथा पुण्यकर्मों के अनुसार विशिष्ट तरह का शरीर पाकर विशेष स्थिति प्राप्त करता है, किन्तु विभिन्न शरीरों में उसके देहान्तरण को प्रगति नहीं माना जा सकता। वास्तविक प्रगति की व्याख्या *भगवद्गीता* (४.९) में की गई है—*त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति*—जब दूसरा शरीर ग्रहण नहीं करना होता तभी मनुष्य वास्तविक प्रगति करता है। जैसाकि *श्रीचैतन्य-चरितामृत* (मध्य १९.१३८) में कहा गया है—

एइत ब्रह्माण्ड भरि'अनन्त जीवगण।

चौरासीलक्ष योनिते करये भ्रमण॥

जीव सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड-भर में घूमता है और विभिन्न लोकों में विविध योनियों में जन्म लेता रहता है। इस प्रकार वह ऊपर-नीचे घूमता है, किन्तु यह वास्तविक प्रगति नहीं है। वास्तविक प्रगति तो इस भौतिक जगत से पूरी तरह से छूटना है। जैसाकि *भगवद्गीता* (८.१६) में कथित है—

आब्रह्म भुवनाल्लोका: पुनरावर्तिनोऽर्जुन।

मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥

''इस भौतिक संसार में सबसे ऊँचे लोक से लेकर सबसे निम्न लोक तक सभी दुख के स्थान हैं, जहाँ बारम्बार जन्म तथा मृत्यु होती रहती है। किन्तु,हे कुन्तीपुत्र! जो मेरे धाम को प्राप्त कर लेता है उसका फिर से जन्म नहीं होता।'' यदि कोई ब्रह्मलोक को, जो ब्रह्माण्ड का सर्वोच्च लोक है, पा जाता है, तो उसे पुन: अध:लोकों में उतरना पड़ता है। इस प्रकार वह प्रकृति के तीनों गुणों के वशीभूत हो

कर निरन्तर ऊपर-नीचे घूमता रहता है, किन्तु मोहग्रस्त होने से वह सोचता है कि प्रगति हो रही है। वह उस वायुयान के समान है, जो पृथ्वी के गुरुत्त्वाकर्षण केन्द्र से बाहर निकलने में अक्षम होने के कारण लगातार पृथ्वी के चक्कर काट रहा होता है। वास्तव में वायुयान कोई प्रगति नहीं कर पाता, क्योंकि वह पृथ्वी के गुरुत्त्वाकर्षण से बँधा हुआ होता है।

जिस प्रकार राजा रथ पर आरूढ़ होता है उसी तरह जीवात्मा शरीर में आसीन है। उसके बैठने का स्थान हृदय है जहाँ वह जीवन-संघर्ष में जुटा रहना है और यह संघर्ष बिना किसी प्रगति के अनवरत चलता रहता है। नरोत्तमदास ठाकुर के शब्दों में—

कर्मकाण्ड ज्ञानकाण्ड, केवल विषेर भाण्ड,

अमृत बलिया येबा खाय।

नाना योनि सदा फिरे, कदर्य भक्षण करे,

तार जन्म अधः-पाते याय॥

कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड के प्रभाव में आकर जीव अत्यधिक संघर्ष करता है और एक के बाद एक विविध योनियों में वह विभिन्न शरीर प्राप्त करता रहता है। वह सभी प्रकार के गर्हित भोजन करता है और अपने सुखभोग के कार्यों द्वारा धिक्कारा जाता है। यदि कोई सचमुच जीवन में प्रगति करना चाहता है, तो उसे कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड की विधियों को त्याग देना चाहिए। कृष्णचेतना में स्थिर होने पर मनुष्य जन्म तथा मृत्यु के बन्धन तथा व्यर्थ जीवन-संघर्ष से मुक्त हो सकता है। यहाँ पर *मृगतृष्णाम् प्रधावति* पद अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि जीव इन्द्रियसुख की प्यास से प्रभावित होता है। वह उस मृग के तुल्य है, जो मरुस्थल में पानी की खोज के लिए निकलता है। मरुस्थल में पशु द्वारा पानी की खोज व्यर्थ जाती है। सचमुच में वहाँ पानी तो रहता नहीं, हाँ, पशु उसे ढूँढ़ने के प्रयास में अपने प्राणों की बलि चढ़ा देता है। प्रत्येक व्यक्ति यह सोचकर भावी सुख की योजना बनाता है कि यदि वह किसी तरह अमुक स्थान तक पहुँच सके तो सुखी हो सकता है, किन्तु जब वह वास्तविक रूप में उस स्थान पर पहुँचता है, तो देखता है कि वहाँ कोई सुख नहीं है। तब वह और आगे किसी दूसरे स्थान तक पहुँचना चाहता है। यही मृगतृष्णा है और इस भौतिक जगत का इन्द्रियसुख इस की आधारभूमि है।

संवत्सरश्चण्डवेग: कालो येनोपलक्षित:
तस्याहानीह गन्धर्वा गन्धर्व्यो रात्रय: स्मृता: ।
हरन्त्यायु: परिक्रान्त्या षष्ट्युत्तरशतत्रयम् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

संवत्सर:—वर्ष; चण्ड-वेग:—चण्डवेग नामक; काल:—समय; येन—जिससे; उपलक्षित:—सांकेतिक; तस्य—आयु का; अहानि—दिन; इह—इस जीवन में; गन्धर्वा:—गन्धर्वगण; गन्धर्व्य:—गन्धर्वियाँ; रात्रय:—रात्रियाँ; स्मृता:—जानी जाती हैं; हरन्ति—ले लेते हैं; आयु:—आयु, उम्र; परिक्रान्त्या—भ्रमण करके; षष्टि—साठ; उत्तर—अधिक; शत—सौ; त्रयम्—तीन।

जिसे पहले चण्डवेग अर्थात् शक्तिशाली काल कहा गया था वह दिन तथा रात से बना है जिनके नाम गन्धर्व और गन्धर्वी हैं। शरीर की आयु दिन तथा रात के बीतने से क्रमश: घटती जाती है जिनकी संख्या ३६० है।

तात्पर्य : *परिक्रान्त्या* शब्द का अर्थ है "भ्रमण करके।" जीव अपने रथ पर वर्ष के ३६० दिन तथा रात भ्रमण करता रहता है। जीवन के इन ३६० दिन तथा रात को पूरा करने के लिए किये गये वृथा श्रम को जीवन की प्रगति मान लिया जाता है।

कालकन्या जरा साक्षाल्लोकस्तां नाभिनन्दति ।
स्वसारं जगृहे मृत्यु: क्षयाय यवनेश्वर: ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

काल-कन्या—काल की पुत्री; जरा—वृद्धावस्था; साक्षात्—प्रत्यक्ष; लोक:—समस्त जीव; ताम्—उसको; न—नहीं; अभिनन्दति—स्वागत करते हैं; स्वसारम्—अपनी बहन के रूप में; जगृहे—स्वीकार किया; मृत्यु:—मृत्यु; क्षयाय—नाश के लिए; यवन-ईश्वर:—यवनों के राजा ने।

जिसे कालकन्या कहा गया है, उसे वृद्धावस्था (जरा) समझना चाहिए। कोई भी वृद्धावस्था नहीं स्वीकार करना चाहता, किन्तु यवनराज, जो साक्षात् मृत्यु है, जरा (वृद्धावस्था) को अपनी बहन के रूप में स्वीकार करता है।

तात्पर्य : शरीर के भीतर बन्दी जीव कालकन्या अर्थात् वृद्धावस्था को मृत्यु के तुरन्त पहले स्वीकार करता है। यवनराज मृत्यु अर्थात् यमराज का प्रतीक है। यमराज के पास जाने के पूर्व जीवात्मा जरा अर्थात् वृद्धावस्था को, जो यवनराज की बहन है, स्वीकार करता है। अपवित्र कार्यों के फलस्वरूप मनुष्य यवनराज तथा उसकी बहन के वश में आ जाता है। जो लोग कृष्णभक्ति करते हैं और नारद मुनि द्वारा बताई गई भक्ति में लगे रहते हैं, उन्हें यवनराज तथा उसकी बहन जरा से प्रभावित नहीं होना

पड़ता। कृष्णभक्त होकर मनुष्य मृत्यु को जीत लेता है। इस भौतिक शरीर को छोड़ने के बाद वह दूसरा भौतिक शरीर न धारण करके घर को अर्थात् भगवान् के पास वापस जाता है। इसकी सम्पुष्टि *भगवद्गीता* (४.९) में हुई है।

आधयो व्याधयस्तस्य सैनिका यवनाश्चराः ।
भूतोपसर्गाशुरयः प्रज्वारो द्विविधो ज्वरः ॥ २३॥
एवं बहुविधैर्दुःखैर्दैवभूतात्मसम्भवैः ।
क्लिश्यमानः शतं वर्षं देहे देही तमोवृतः ॥ २४॥
प्राणेन्द्रियमनोधर्मानात्मन्यध्यस्य निर्गुणः ।
शेते कामलवान्ध्यायन्ममाहमिति कर्मकृत् ॥ २५॥

शब्दार्थ

आधयः—मानसिक क्लेश; व्याधयः—शारीरिक क्लेश या रोग; तस्य—यवनेश्वर के; सैनिकाः—सिपाही; यवनाः—यवनगण; चराः—अनुचर; भूत—जीवों के; उपसर्ग—विपत्ति के समय; आशु—तुरन्त; रयः—अत्यन्त शक्तिशाली; प्रज्वारः—प्रज्वार नामक; द्वि-विधः—दो प्रकार का; ज्वरः—ज्वर; एवम्—इस प्रकार; बहु-विधैः—विभिन्न प्रकारों के; दुःखैः—कष्टों के द्वारा; दैव—भाग्यवश; भूत—अन्य जीवों द्वारा; आत्म—शरीर तथा मन द्वारा; सम्भवैः—उत्पन्न; क्लिश्यमानः—कष्ट पाकर; शतम्—सौ; वर्षम्—वर्ष; देहे—शरीर में; देही—जीव; तमः-वृतः—भौतिक अंधकार से आच्छादित; प्राण—जीवन का; इन्द्रिय—इन्द्रियों का; मनः—मन का; धर्मान्—गुण; आत्मनि—आत्मा को; अध्यस्य—भ्रमवश मानते हुए; निर्गुणः—यद्यपि दिव्य; शेते—लेट जाता है; काम—इन्द्रियसुख का; लवान्—खंडों पर; ध्यायन्—ध्यान करते हुए; मम—मेरा; अहम्—मैं; इति—इस प्रकार; कर्म-कृत्—कर्ता।

यवनेश्वर (यमराज) के अनुचर मृत्यु के सैनिक कहलाते हैं, जो शरीर तथा मन सम्बन्धी विविध क्लेश माने जाते हैं। प्रज्वार दो प्रकार के ज्वरों का सूचक है—अत्यधिक ताप तथा अत्यधिक शीत—जैसे टाइफाइड तथा निमोनिया। शरीर के भीतर लेटा हुआ जीव विविध क्लेशों द्वारा, जो दैविक, भौतिक तथा अपने ही शरीर तथा मन से सम्बन्धित हैं, विचलित होता रहता है। समस्त प्रकार के क्लेशों के होते हुए भी जीव इस संसार को भोगने की इच्छा से अनेकानेक योजनाओं में बह जाता है। निर्गुण (दिव्य) होकर भी जीव अपने अज्ञान के कारण अहंकारवश (मैं तथा मेरा) इन भौतिक कष्टों को स्वीकार करता है। इस प्रकार वह इस शरीर के भीतर सौ वर्षों तक रहता है।

तात्पर्य : वेदों का कथन है—*असङ्गोऽयं पुरुषः।* जीवात्मा वास्तव में इस जगत से विलग है, क्योंकि आत्मा भौतिक नहीं होती है। *भगवद्गीता* में यह भी कहा गया है कि जीवात्मा उत्कृष्ट शक्ति है और सारे भौतिक तत्त्व अर्थात् पृथ्वी, जल, अग्नि, निकृष्ट शक्ति हैं। इन तत्त्वों को *भिन्न* अथवा पृथक्

शक्ति भी कहा गया है। जब अन्तरंगा या उत्कृष्ट शक्ति बहिरंगा शक्ति के संसर्ग में आती है, तो उसे अनेक क्लेश उठाने पड़ते हैं। *भगवद्गीता* (२.१४) में भगवान् यह भी कहते हैं—*मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखद:खदा:*—भौतिक शरीर होने के कारण जीवात्मा को अनेक क्लेश उठाने पड़ते हैं, जो वायु, जल, अग्नि, अत्यधिक ताप, अत्यधिक शीत, धूप, अधिक भोजन, अस्वास्थ्यकर भोजन, शरीर के तीनों तत्त्वों का असंतुलन (कफ, पित्त तथा वायु) आदि द्वारा उत्पन्न होते हैं। शरीर की आँतें, गला, मस्तिष्क तथा अन्य भाग सभी प्रकार के रोगों से प्रभावित होते रहते हैं, जो इतने शक्तिशाली होते हैं कि जीव को अत्यधिक कष्ट पहुँचाते हैं। किन्तु जीवात्मा इन सारे भौतिक तत्त्वों से सर्वथा भिन्न रहता है। इस श्लोक में वर्णित दो प्रकार के ज्वर आज की भाषा में निमोनिया तथा टाइफाइड हैं। जब शरीर अत्यधिक ज्वर से ग्रस्त होता है, तो टाइफाइड तथा निमोनिया होता है, जिन्हें *प्रज्वार* कहा गया है। अन्य जीव भी अनेक प्रकार के क्लेशों के जनक हैं—यथा सरकार कर वसूलती है तथा और अनेक चोर, उचक्के तथा ठग भी हैं। अन्य जीवों द्वारा उत्पन्न क्लेश *अधिभौतिक* कहलाते हैं। दुर्भिक्ष, महामारी, युद्ध, भूकम्प इत्यादि के रूप में भी क्लेश होते हैं। ये देवताओं या हमारी शक्ति से परे अन्य स्त्रोतों से उत्पन्न होते हैं। वास्तव में जीवों के अनेक शत्रु हैं और इन सबका वर्णन यह दिखाने के लिए किया गया है कि यह संसार कितना कष्टकारक है।

इस संसार के मूलभूत कष्ट को जानते हुए प्रयास यही होना चाहिए कि भौतिकता के चंगुल से छूटकर भगवान् के धाम वापस जाया जाये। वास्तव में जीव इस शरीर में तनिक भी सुखी नहीं है। शरीर के कारण ही उसे भूख-प्यास लगती है और वह मन, वचन, क्रोध, पेट, लिंग, गुदा इत्यादि के द्वारा प्रभावित होता है। दिव्य जीवात्मा को अनेकानेक कष्ट इसीलिए घेर लेते हैं, क्योंकि वह इस संसार में अपनी इन्द्रियों को तुष्ट करना चाहता है। यदि वह केवल इन्द्रियतुष्टि के कार्यों से अपने को विलग कर ले और अपनी इन्द्रियों को भगवान् की सेवा में लगा दे तो संसार की सारी समस्याएँ तुरन्त घट जाँय और कृष्णभक्ति में प्रगति के फलस्वरूप वह सभी क्लेशों से मुक्त होकर इस शरीर को त्यागने के बाद भगवान् के धाम को वापस जा सकता है।

यदात्मानमविज्ञाय भगवन्तं परं गुरुम् ।

पुरुषस्तु विषज्जेत गुणेषु प्रकृतेः स्वदृक् ॥ २६॥
गुणाभिमानी स तदा कर्माणि कुरुतेऽवशः ।
शुक्लं कृष्णं लोहितं वा यथाकर्माभिजायते ॥ २७॥

शब्दार्थ

यदा—जब; आत्मानम्—परमात्मा को; अविज्ञाय—भूलकर; भगवन्तम्—भगवान्; परम्—परम; गुरुम्—उपदेशक को; पुरुषः—जीव; तु—तब; विषज्जेत—अपने को हवाले करता है; गुणेषु—गुणों के प्रति; प्रकृतेः—प्रकृति के; स्व-दृक्—अपना कल्याण देखने वाला; गुण-अभिमानी—प्रकृति के गुणों से अपनी पहचान करने वाला; सः—वह; तदा—उस समय; कर्माणि—कर्म; कुरुते—करता है; अवशः—तुरन्त; शुक्लम्—श्वेत; कृष्णम्—काला, श्याम; लोहितम्—लाल; वा—अथवा; यथा—के अनुसार; कर्म—कर्म; अभिजायते—जन्म लेता है।

जीव की यह प्रकृति है कि उसे अपना अच्छा या बुरा भाग्य चुनने की कुछ-कुछ छूट है, किन्तु जब वह अपने परम स्वामी भगवान् को भुला देता है, तो वह अपने को प्रकृति के गुणों के हवाले कर देता है। इस तरह प्रकृति के गुणों के वशीभूत होकर वह अपने को शरीर मान बैठता है। कभी वह तमोगुण, तो कभी रजोगुण और कभी सतोगुण के अधीन होता है। इस प्रकार जीव प्रकृति के गुणों के अधीन रह कर विभिन्न प्रकार के शरीर प्राप्त करता है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (१३.२२) में विभिन्न प्रकार के शरीरों की व्याख्या पाई जाती है—

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्।

कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥

"प्रकृति में तीनों गुणों को भोगते हुए जीव अपना जीवनयापन करता है। इसका कारण है प्रकृति के साथ उसकी संगति। इस प्रकार उसकी विभिन्न योनियों में अच्छों तथा बुरों से मिलाप होता है।"

प्रकृति के गुणों के सम्पर्क में आने से जीव को चौरासी लाख योनियों में से नाना प्रकार के शरीर प्राप्त होते हैं। यहाँ यह स्पष्ट कहा गया है कि जीव को कुछ-कुछ स्वतंत्रता प्राप्त है, जो *स्वदृक्* शब्द से परिलक्षित है, जिसका अर्थ है, "जो अपना कल्याण देख सके।"जीव की स्वाभाविक स्थिति अत्यन्त तुच्छ है और चुनाव करते समय उसे धोखा हो सकता है। वह भगवान् का अनुकरण करने को चुन सकता है। एक नौकर स्वयं अपना व्यापार शुरू करना चाह सकता है और इस तरह वह अपने स्वामी का अनुकरण करता है और ऐसा करने पर उसे अपने स्वामी का संरक्षण छोड़ देना होता है। इस प्रकार वह कभी सफल होता है, तो कभी असफल। इसी प्रकार श्रीकृष्ण का अंश जीव भी भगवान् की स्पर्धा करने के लिए अपना व्यापार प्रारम्भ करता है। भगवान् का पद पाने के लिए अनेक प्रतियोगी हो जाते हैं, किन्तु भगवान् जैसा बनना तनिक भी संभव नहीं है। इस प्रकार विभिन्न पक्षों द्वारा भगवान् का

अनुकरण करने के फलस्वरूप विकट जीवन-संघर्ष चल रहा है। भवबन्धन का कारण भगवान् की सेवा से हटकर उनका अनुकरण करना है। भगवान् का अनुकरण मायावादी चिन्तक करते हैं, क्योंकि वे कृत्रिम ढंग से भगवान् से तादात्म्य करना चाहते हैं। जब वे अपने को मुक्त मानते हैं, तो वे ज्ञान के भ्रम में होते हैं। कोई न तो ईश्वर हो सकता है, न ही उनके समान बन सकता है। ऐसी कल्पना करना भवबन्धन में बने रहना है।

शुक्लात्प्रकाशभूयिष्ठाँल्लोकानाप्नोति कर्हिचित् ।
दु:खोदर्कान्क्रियायासांस्तम:शोकोत्कटान्क्वचित् ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

शुक्लात्—सतोगुण से; प्रकाश—प्रकाश से; भूयिष्ठान्—गुणसम्पन्न; लोकान्—लोक; आप्नोति—प्राप्त करता है; कर्हिचित्—कभी-कभी; दु:ख—कष्ट; उदर्कान्—परिणाम; क्रिया-आयासान्—कठिन कार्यों से पूर्ण; तम:—अंधकार; शोक—शोक में; उत्कटान्—परिपूर्ण, बहुल; क्वचित्—कभी-कभी।

जो सतोगुणी हैं, वे वैदिक आदेशों के अनुसार पुण्यकर्म करते हैं और इस तरह वे उच्चलोकों को जाते हैं जहाँ देवों का निवास है। जो रजोगुणी हैं, वे मनुष्य लोक में विभिन्न प्रकार के उत्पादक काम करते हैं। इसी प्रकार तमोगुणी पुरुष विभिन्न प्रकार के कष्ट उठाते हैं और पशु जगत में वास करते हैं।

तात्पर्य : तीन तरह के लोक हैं—उच्च, मध्य तथा अध:। जो सतोगुणी होते हैं, वे उच्च लोकों—ब्रह्म (सत्य), तप:, जन: तथा मह: लोकों को जाते हैं। जो रजोगुणी हैं उन्हें भू: तथा भुव: लोकों की प्राप्ति होती है। जो तमोगुणी हैं, वे अतल, वितल, सुतल, तलातल, महातल, रसातल, पाताल या पशु जगत में स्थान पाते हैं। गुणात्मक दृष्टि से जीव तथा भगवान् एक हैं, किन्तु अपनी विस्मृति के कारण जीव को विभिन्न लोकों में विभिन्न प्रकार के शरीर प्राप्त होते हैं। आज के समय में मानव समाज बुरी तरह से रजोगुण से प्रभावित है; फलस्वरूप लोग बड़े-बड़े कारखानों में काम करने में लगे हुए हैं। वे यह भूल जाते हैं कि ऐसे स्थानों में रहना कितना कष्टप्रद है। *भगवद्गीता* में ऐसे कामों को *उग्रकर्म* कहा गया है। जो लोग श्रमिकों की शक्ति का उपयोग करते हैं, वे पूँजीपति कहलाते हैं और वास्तविक काम करने वाले श्रमिक या मजदूर कहलाते हैं। वास्तव में वे दोनों ही पूँजीपति हैं और मजदूर रजोगुणी तथा तमोगुणी दोनों हैं। इसका परिणाम यह है कि सदा ही अत्यन्त विकट (उग्र) स्थिति बनी रहती है। इनके विपरीत वे लोग हैं, जो सतोगुणी हैं—कर्मी तथा ज्ञानीजन। कर्मीजन वैदिक आदेशों के

अनुसार उच्चलोकों तक पहुँचने का प्रयास करते हैं। ज्ञानीजन ब्रह्म में तदाकार होने का प्रयास करते हैं। इस प्रकार इस जगत में विभिन्न योनियों में सभी वर्ग के जीव पाये जाते हैं। इससे संसार में श्रेष्ठ तथा निकृष्ट जीव-रूपों के पाये जाने की व्याख्या हो जाती है।

क्वचित्पुमान्क्वचिच्च स्त्री क्वचिन्नोभयमन्धधीः ।
देवो मनुष्यस्तिर्यग्वा यथाकर्मगुणं भवः ॥ २९॥

शब्दार्थ

क्वचित्—कभी; पुमान्—नर; क्वचित्—कभी; च—भी; स्त्री—नारी; क्वचित्—कभी; न—नहीं; उभयम्—दोनों; अन्ध—अन्धा; धीः—जिसकी बुद्धि; देवः—देवता; मनुष्यः—मनुष्य; तिर्यक्—पशु, पक्षी आदि; वा—अथवा; यथा—अनुसार; कर्म—कर्म के; गुणम्—गुण; भवः—जन्म।

भौतिक प्रकृति के तमोगुण से आच्छादित होकर जीवात्मा कभी नर, कभी नारी, कभी नपुंसक, कभी मनुष्य, कभी देवता, कभी पक्षी, पशु इत्यादि बनता है। इस प्रकार वह इस भौतिक जगत में घूमता रहता है। वह प्रकृति के गुणों के अधीन अपने कर्मों के कारण विभिन्न प्रकार के शरीर स्वीकार करता रहता है।

तात्पर्य : वास्तव में जीव भगवान् का अंश है, फलतः वह आध्यात्मिक गुणसम्पन्न है। वह कभी भौतिक नहीं होता। उसका भौतिक बोध उसकी विस्मृति से उत्पन्न होने के कारण एक गलती है। वह भगवान् के ही समान तेजोमय (चमकीला) है। किन्तु सूर्य तथा सूर्यप्रकाश अत्यन्त चमकीले (तेजोमय) होते हैं। भगवान् पूर्ण चमकते सूर्य के सदृश हैं और जीव सूर्य के उन लघु कणों के समान हैं, जिनसे सूर्य-प्रकाश बनता है। जब ये लघु कण मायारूपी बादल से ढक जाते हैं, तो उनका चमकीलापन अदृश्य हो जाता है। जब माया के बादल हट जाते हैं, तो वे कण पुनः पूर्ववत् चमकने लगते हैं। ज्योंही जीव माया के अज्ञान से आच्छादित हो जाता है, वह भगवान् के साथ अपने सम्बन्ध को नहीं समझ सकता। यदि किसी तरह वह भगवान् के समक्ष पहुँच जाता है, तो वह अपने को भी उतना ही प्रकाशपूर्ण (तेजोमय) पाता है जितने की भगवान्, भले ही वह उतना व्यापक न हो। चूँकि जीव परमेश्वर का अनुकरण करना चाहता है, इसलिए वह माया से आच्छादित है। हम न तो भगवान् का अनुकरण कर सकते हैं, न ही हम परम भोक्ता बन सकते हैं। यह सम्भव नहीं है, किन्तु जब हम ऐसा होना सम्भव सोचते हैं, तो हम माया द्वारा बद्ध हो जाते हैं। इस तरह परमेश्वर के साथ अपने सम्बन्ध को भूल जाने के कारण ही जीव माया के चंगुल में आ फँसता है।

माया के वश में होकर जीव भूतप्रेत बाधा से त्रस्त व्यक्ति जैसा बन जाता है। ऐसा व्यक्ति अनर्गल प्रलाप करता रहता है। जब जीव माया के वश में होता है, तो वह तथाकथित विज्ञानी, दार्शनिक, राजनीतिज्ञ या समाजवादी बन जाता है और प्रतिक्षण वह मानव-समाज के कल्याण हेतु तरह-तरह की योजनाएँ प्रस्तुत करता रहता है। अन्ततः ये सारी योजनाएँ विफल होती हैं, क्योंकि ये भ्रामक (मोहमय) हैं। इस प्रकार जीव भूल जाता है कि वह भगवान् का शाश्वत दास है। उल्टे, वह माया का दास बन बैठता है। प्रत्येक दशा में वह दास रहता है। यह उसका दुर्भाग्य है कि भगवान् को भुलाने के कारण वह माया का दास बन जाता है। माया का दास होने से कभी वह राजा बनता है, कभी सामान्य नागरिक, कभी ब्राह्मण तो कभी शूद्र इत्यादि। कभी वह सुखी रहता है, तो कभी सम्पन्न व्यक्ति के रूप में रहता है। कभी वह लघु कीट बनता है। कभी वह स्वर्ग में रहता है, तो कभी नरक में। कभी वह देवता बनता है, तो कभी असुर। कभी वह दास बनता है, तो कभी स्वामी। इस प्रकार जीव सारे ब्रह्माण्ड में घूमता रहता है। जब वह प्रामाणिक गुरु के सम्पर्क में आता है तभी उसे अपनी वास्तविक स्वाभाविक स्थिति का बोध होता है। तब वह इस संसार से ऊब जाता है। उस समय, कृष्णचेतना में आकर वह अपने विगत सांसारिक अनुभवों पर पश्चात्ताप करता है। यह पश्चात्ताप लाभप्रद होता है, क्योंकि इससे उसका भौतिक बद्ध जीवन पवित्र हो जाता है। तब वह भगवान् से उनकी सेवा में लगा लेने के लिए प्रार्थना करता है और उस समय श्रीकृष्ण उसे माया के बन्धन से मोक्ष दिला देते हैं। भगवान् कृष्ण ने इसकी व्याख्या *भगवद्गीता* (७.१४) में की है—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।

मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

"मेरी यह त्रिगुणमयी दैवी शक्ति दुर्लंघ्य है। किन्तु जो मेरी शरण में आ जाते हैं, वे इसे सरलता से पार कर सकते हैं।"

केवल कृष्ण के अनुग्रह से माया के चंगुल से छूटा जा सकता है। ज्ञान या अन्य कर्मों से इससे छुटकारा पाना असम्भव है। जब जीव को कृष्ण की कृपा से अपनी वास्तविक स्थिति का बोध होता है, तो वह अपने को कृष्णचेतना में सदैव दृढ़ रखकर उसी के अनुसार कार्य करता है। इस प्रकार वह क्रमशः माया के चंगुल से पूर्ण रूप से मुक्त हो जाता है। जब उसकी कृष्णचेतना दृढ़ होती है, तो माया

उसे छू नहीं पाती। इस प्रकार कृष्णभक्तों की संगति में रह कर जीव इस संसार के कल्मष से मुक्त हो सकता है। इस प्रसंग में श्रील कृष्णदास कविराज गोस्वामी का कथन है (*श्रीचैतन्य-चरितामृत,* मध्य २२.२५)—

ताते कृष्ण भजे, करे गुरुर सेवन।

माया-जाल छूटे, पाय कृष्णेर चरण॥

"कृष्णचेतना की अवस्था में जीव अपने गुरु के निर्देशानुसार भक्ति में लगा रहता है। इस तरह वह माया के चंगुल से छूट कर भगवान् कृष्ण के चरणकमलों की शरण ग्रहण करता है।"

क्षुत्परीतो यथा दीनः सारमेयो गृहं गृहम् ।
चरन्विन्दति यद्दिष्टं दण्डमोदनमेव वा ॥ ३० ॥
तथा कामाशयो जीव उच्चावचपथा भ्रमन् ।
उपर्यधो वा मध्ये वा याति दिष्टं प्रियाप्रियम् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

क्षुत्-परीतः—भूख से पीड़ित; यथा—जिस प्रकार; दीनः—दरिद्र; सारमेयः—कुत्ता; गृहम्—एक घर से; गृहम्—दूसरे घर को; चरन्—घूमते हुए; विन्दति—प्राप्त करता है; यत्—जिसका; दिष्टम्—प्रारब्ध के अनुसार; दण्डम्—दण्ड; ओदनम्—भोजन; एव—निश्चय ही; वा—अथवा; तथा—उसी तरह; काम-आशयः—विभिन्न इच्छाओं का अनुसरण करता; जीवः—जीव; उच्च—उँचा; अवच—नीचा; पथा—रास्ते पर; भ्रमन्—घूमते हुए; उपरि—ऊपर; अधः—नीचे; वा—अथवा; मध्ये—बीच में; वा—अथवा; याति—जाता है; दिष्टम्—भाग्य के अनुसार; प्रिय—सुखकर; अप्रियम्—अच्छा न लगने वाला।

यह जीव ठीक उस कुत्ते के तुल्य है, जो भूख से परेशान भोजन पाने के लिए द्वार-द्वार जाता है। अपने प्रारब्ध के अनुसार वह कभी दण्ड पाता है और खदेड़ दिया जाता है, अथवा कभी-कभी खाने को थोड़ा भोजन भी पा जाता है। इसी प्रकार, जीव भी अनेकानेक इच्छाओं के वशीभूत होकर अपने भाग्य के अनुसार विभिन्न योनियों में भटकता रहता है। कभी वह उच्च स्थान प्राप्त करता है, तो कभी निम्न स्थान। कभी वह स्वर्ग को जाता है, कभी नरक को, तो कभी मध्य लोकों को और ऐसा चलता रहता है।

तात्पर्य : यहाँ पर जीव की स्थिति की तुलना कुत्ते से की गई है। भाग्यवश कुत्ते का मालिक धनी हो सकता है और संयोग से वह सड़कों में घूमने वाला कुत्ता बन सकता है। धनी मालिक का कुत्ता होने पर वह मौज से रहता है। पाश्चात्य देशों में कभी-कभी कुत्ते का मालिक अपनी वसीयत में उसके नाम पर लाखों डालर की राशि छोड़ कर मरता है। किन्तु सड़कों पर बिना भोजन के घूमने वाले कुत्तों

की भी संख्या कम नहीं होती। अत: जीव की बद्ध अवस्था की तुलना कुत्ते से करना अत्यन्त उपयुक्त है। किन्तु यदि कुत्ता ही बनना पड़े तो बुद्धिमान मनुष्य श्रीकृष्ण का कुत्ता बनना पसन्द करेगा। भौतिक जगत में कुत्ता कभी ऊँचे उठता है, तो कभी सड़क पर घूमता है, किन्तु आध्यात्मिक जगत में कृष्ण का कुत्ता सदैव सुखी रहता है। इसीलिए श्रील भक्तिविनोद ठाकुर गाते हैं—*वैष्णव ठाकुर तोमार कुकुर बलिया जानह मोरे।* इस प्रकार वे किसी वैष्णव का कुत्ता बनना पसन्द करते हैं। कुत्ता अपने मालिक के द्वार पर सदैव रहता है और अवांछित व्यक्ति को अपने मालिक के पास नहीं फटकने देता। इसी प्रकार मनुष्य को वैष्णव की सेवा करनी चाहिए और उसे सब तरह से प्रसन्न रखना चाहिए। जब तक वह ऐसा नहीं करता, उसकी आध्यात्मिक प्रगति नहीं हो सकती। यही नहीं, यदि इस जगत में वह सतोगुणी नहीं बनता तो वह उच्च लोकों को नहीं जा सकता। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (१४.१८) में हुई है—

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसा:।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसा:॥

"जो सतोगुणी हैं, वे क्रमश: उच्चलोकों को जाते हैं, जो रजोगुणी हैं, वे पृथ्वीलोक में रहते हैं और जो तमोगुणी हैं, वे नरक लोकों को जाते हैं।"

विभिन्न लोकों में जीवन के अनेक प्रकार हैं और ये सभी जीव द्वारा सतो, रजो तथा तमोगुणों को विकसित करने के कारण प्राप्त होते हैं। यदि कोई सतोगुणी है, तो वह उच्चलोक को जाता है, यदि वह रजोगुणी है, तो मध्य लोकों में रहता है, किन्तु यदि वह तमोगुणी है, तो निम्न योनियों में धकेल दिया जाता है।

दु:खेष्वेकतरेणापि दैवभूतात्महेतुषु ।
जीवस्य न व्यवच्छेद: स्याच्चेत्तत्तत्प्रतिक्रिया ॥ ३२॥

शब्दार्थ

दु:खेषु—दुखों में; एकतरेण—एक से; अपि—भी; दैव—भाग्य; भूत—अन्य जीव; आत्म—मन तथा शरीर; हेतुषु—के कारण; जीवस्य—जीव का; न—कभी नहीं; व्यवच्छेद:—छुटकारा; स्यात्—सम्भव है; चेत्—यद्यपि; तत्-तत्—उन-उन दुखों की; प्रतिक्रिया—विरोधी क्रिया।

सारे जीव भाग्य, अन्य जीवों अथवा मन तथा शरीर सम्बन्धी दुखों से छुटकारा पाने का प्रयास करते हैं। तो भी इन नियमों का प्रतिकार करने के प्रयासों के बावजूद वे प्रकृति के

नियमों द्वारा बद्ध रहते हैं।

तात्पर्य : जिस प्रकार कोई कुत्ता एक टुकड़ा रोटी या दण्ड पाने के लिए इधर-उधर भटकता है, उसी प्रकार जीव भी भौतिक दुख से छुटकारा पाने के लिए लगातार अनेक प्रकार की योजनाएँ बनाकर सुखी रहना चाहता है। यही जीवन-संघर्ष है। इसे हम अपने दैनिक जीवन में घटित होते देख सकते हैं कि किस प्रकार कष्टमय परिस्थितियों को दूर करने के लिए हमें योजनाएँ बनाने के लिए बाध्य होना पड़ता है। एक प्रकार की कष्टमय परिस्थिति से छुटकारा पाने के लिए हमें एक अन्य प्रकार की कष्टमय परिस्थिति में पड़ना होता है। निर्धन व्यक्ति धनाभाव के कारण कष्ट पाता है, किन्तु यदि वह धनी बनना चाहता है, तो उसे अनेक प्रकार से संघर्ष करना होता है। वास्तव में यह कोई प्रतिक्रिया न होकर माया का जाल होता है। यदि वह व्यक्ति अपनी स्थिति से छुटकारा पाने के लिए प्रयास न करके अपनी वर्तमान स्थिति को अपने पूर्व कर्मों के कारण प्राप्त हुई मान कर सन्तुष्ट रहता है, तो वह अपनी शक्ति को कृष्णभक्ति विकसित करने में लगा सकता है। इसकी संस्तुति समस्त वैदिक साहित्य में हुई है (भागवत १.५.१८)—

तस्यैव हेतोः प्रयतेत कोविदो

न लभ्यते यद्भ्रमतामुपर्यधः।

तल्लभ्यते दुःखवदन्यतः सुखं

कालेन सर्वत्र गभीररंहसा॥

"जो लोग वास्तव में बुद्धिमान और चिन्तन की ओर उन्मुख हैं, उन्हें यही प्रयत्न करना चाहिए कि उनका अन्त सार्थक हो जो उच्चतमलोक (ब्रह्मलोक) से निम्नतम लोक (पाताल) तक विचरण करते रहने पर भी प्राप्य नहीं है। जहाँ तक इन्द्रिय-सुख का प्रश्न है, वह कालक्रम में स्वतः प्राप्त किया जा सकता है, जिस प्रकार न चाहते हुए भी हमें स्वतः कष्ट प्राप्त होते हैं।" मनुष्य को चाहिए कि कृष्णभक्ति विकसित करते रहने का प्रयत्न करे; अपनी भौतिक स्थिति को सुधारने के प्रयास में व्यर्थ समय न गँवाए। वास्तव में भौतिक स्थिति को सुधार पाना कठिन है। सुधारने का अर्थ है अन्य दुखपूर्ण स्थिति को अंगीकार करना। किन्तु यदि हम अपनी कृष्णभक्ति में सुधार लाने का प्रयास करते हैं, तो बिना किसी बाह्य प्रयास के ही भौतिक जीवन के क्लेश भाग जाते हैं। इसीलिए श्रीकृष्ण वचन

देते हैं—*कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्त: प्रणश्यति*—"हे कुन्तीपुत्र! तुम निर्भय होकर घोषित कर दो कि मेरा भक्त कभी नहीं मरता" (*भगवद्गीता* ९.३१)। जो भक्तिपथ का अनुसरण करता है, वह तन तथा मन के कष्टों के होते हुए तथा अन्य जीवों एवं भाग्य द्वारा आ मिलने वाले तथा अपने वश से परे के कष्टों के होते हुए भी विनष्ट नहीं होता।

यथा हि पुरुषो भारं शिरसा गुरुमुद्वहन् ।
तं स्कन्धेन स आधत्ते तथा सर्वा: प्रतिक्रिया: ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस प्रकार; हि—निश्चय ही; पुरुष:—मनुष्य; भारम्—भार; शिरसा—सिर पर; गुरुम्—भारी; उद्वहन्—ढोते हुए; तम्—वह; स्कन्धेन—कन्धे पर; स:—वह; आधत्ते—रखता है; तथा—उसी तरह; सर्वा:—सभी; प्रतिक्रिया:—विरोधी क्रियाएँ।.

मनुष्य बोझ को सिर पर लेकर ढो सकता है और जब यह उसे भारी लगने लगे तो कभी-कभी वह बोझ को कन्धे पर रख कर अपने सिर को विश्राम देता है। इस तरह वह बोझ से छुटकारा पाने के लिए प्रयास करता है। फिर भी, वह इस बोझ से मुक्त होने के लिए चाहे जो भी विधि निकाले, वह उस बोझ को एक स्थान से दूसरे स्थान पर रखने से अधिक और कुछ नहीं कर सकता।

तात्पर्य : बोझ को एक स्थान से दूसरे में स्थानान्तरित करने का यह सुन्दर वर्णन है। जब मनुष्य सिर पर रखे बोझ से थकता है, तो वह उसे सिर से हटाकर कंधे पर रख लेता है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि वह बोझ ढोने से बच गया। इसी प्रकार मानव-समाज सभ्यता के नाम पर एक प्रकार के कष्ट को हटाने के लिए दूसरे प्रकार का कष्ट उत्पन्न करता है। समकालिक सभ्यता में हम देखते हैं कि हमें एक स्थान से दूसरे स्थान तक त्वरित गति से ले जाने के लिए अनेक वाहन बनाए जाते हैं, किन्तु उसी के साथ हमने अन्य समस्याएँ उत्पन्न कर दी हैं। हमें अनेक सड़कों का निर्माण करना पड़ता है, किन्तु फिर भी ये सड़कें वाहनों की भीड़ का सामना करने के लिए पर्याप्त नहीं होती। साथ ही वायु प्रदूषण तथा ईंधन की कमी जैसी समस्याएँ उठती हैं। निष्कर्ष यह है कि हम अपने कष्टों का निवारण करने के लिए चाहे जो विधयाँ निकाल लें, उनसे हमारे कष्टों का अन्त नहीं हो पाता। यह मात्र मोह है। हम बोझ को केवल सिर से हटाकर कन्धे पर रखते हैं। अपनी समस्याओं को न्यूनतम करने का सही उपाय है भगवान् की शरण ग्रहण करके उनके संरक्षण में अपने को छोड़ देना। भगवान् दयालु

होने के कारण हमारे कष्टमय जीवन को सुखी बनाने के लिए व्यवस्था करेंगे।

नैकान्ततः प्रतीकारः कर्मणां कर्म केवलम् ।
द्वयं ह्यविद्योपसृतं स्वप्ने स्वप्न इवानघ ॥ ३४॥

शब्दार्थ

न—नहीं; एकान्ततः—अन्ततः; प्रतीकारः—निवारण; कर्मणाम्—विभिन्न कर्मों का; कर्म—अन्य कर्म; केवलम्—एकमात्र; द्वयम्—दोनों; हि—क्योंकि; अविद्या—मोह के कारण; उपसृतम्—स्वीकृत; स्वप्ने—स्वप्न में; स्वप्नः—सपना; इव—सदृश; अनघ—हे पापकर्मों से मुक्त, शुद्ध हृदय।

नारद ने आगे कहा : हे शुद्धहृदय पुरुष, कोई भी व्यक्ति कर्मों के फल का निराकरण कृष्णभक्ति से रहित अन्य कर्म करके नहीं कर सकता। ऐसे सारे कर्म हमारे अज्ञान के कारण हैं। जब हम कोई कष्टप्रद स्वप्न देखते हैं, तो हम किसी कष्टप्रद व्यामोह के द्वारा छुटकारा नहीं पा सकते। स्वप्न का निवारण तो जग कर ही किया जा सकता है। इसी प्रकार हमारा भौतिक अस्तित्व हमारे अज्ञान तथा मोह के कारण है। जब तक हममें कृष्णभक्ति नहीं जग जाती, ऐसे स्वप्नों से छुटकारा नहीं मिल सकता। समस्त समस्याओं को हल कर लेने के लिए हमें कृष्णचेतना को जागृत करना होगा।

तात्पर्य : सकाम कर्म दो प्रकार के हैं। बोझ को चाहे हम सिर पर रखें या कन्धे पर, वास्तव में बोझ तो किसी भी स्थान पर एक-जैसा है। किन्तु बोझ के स्थान का परिवर्तन निवारण के नाम पर होता है। इस सम्बन्ध में प्रह्लाद महाराज ने कहा है कि इस संसार में मूढ़ लोग शारीरिक सुख के लिए, यह जाने बिना, इतना विस्तृत आयोजन करते हैं कि यदि ये योजनाएँ सफल हो भी जाँय तो वे आखिरकार माया ही तो होते हैं। लोग मायावी शरीर-सुख के लिए दिन-रात कार्य करते हैं, किन्तु सुख प्राप्त करने का यह ढंग नहीं है। मनुष्य को भौतिक बन्धन से निकलकर भगवान् के धाम को वापस जाना होता है। यही वास्तविक सुख है। इसलिए वेदों का आदेश है—"इस भौतिक जगत के अधंकार में मत रहो। आध्यात्मिक जगत के प्रकाश में जाओ।" इस भौतिक शरीर के दुख के निराकरण हेतु एक दूसरी कष्टमय स्थिति स्वीकार करनी होती है। ये दोनों ही स्थितियाँ केवल मोह हैं। एक कष्ट के निवारण हेतु दूसरे कष्ट को सहने में कोई लाभ नहीं है। निष्कर्ष यह निकलता है कि जब तक मनुष्य इस संसार में विद्यमान रहता है, वह शाश्वत रूप से सुखी नहीं रह सकता। इसका एकमात्र निवारण है इस भौतिक जगत से सदा के लिए मुक्त होकर भगवान् के धाम को वापस जाना।

अर्थे ह्यविद्यमानेऽपि संसृतिर्न निवर्तते ।
मनसा लिङ्गरूपेण स्वप्ने विचरतो यथा ॥ ३५॥

शब्दार्थ

अर्थे—वास्तविक कारण; हि—निश्चय ही; अविद्यमाने—न रहने पर; अपि—यद्यपि; संसृतिः—संसार; न—नहीं; निवर्तते—छुटकारा पाता है; मनसा—मन से; लिङ्ग-रूपेण—सूक्ष्म शरीर से; स्वप्ने—स्वप्न में; विचरतः—कार्य करते हुए; यथा—जिस प्रकार।

कभी-कभी हमें इसलिए कष्ट होता है, क्योंकि हमें स्वप्न में शेर या सर्प दिख जाता है, किन्तु वास्तव में वहाँ न तो शेर होता है, न सर्प। इस प्रकार हम अपनी सूक्ष्म अवस्था में कोई परिस्थिति उत्पन्न कर लेते हैं और उसके परिणामों को भोगते हैं। इन कष्टों का निवारण तब तक नहीं हो सकता जब तक कि हम अपने स्वप्न से जग नहीं जाते।

तात्पर्य : जैसाकि वेदों का कथन है, जीव सदैव सूक्ष्म तथा स्थूल इन दोनों प्रकार के शरीरों से पृथक् रहता है। हमारे सारे कष्ट भौतिक इन शरीरों के कारण हैं। *भगवद्गीता* (२.१४) में इसकी व्याख्या की गई है—

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥

"हे कुन्तीपुत्र! सुख तथा दुख का अस्थायी प्राकट्य और फिर उनका अदृश्य होना शीत तथा ग्रीष्म ऋतुओं के प्राकट्य तथा उनके प्रस्थान के समान है। हे भारत! वे इन्द्रियों एवं विषयों के संयोग से उत्पन्न हैं और मनुष्य को चाहिए कि अविचल भाव से उन्हें सहना सीखे।" इस प्रकार श्रीकृष्ण ने अर्जुन को बताया कि सारे शारीरिक कष्ट आते जाते रहते हैं। मनुष्य को चाहिए कि इन्हें सहना सीखे। हमारे सारे कष्टों का कारण यह संसार है, क्योंकि एक बार भौतिक स्थिति से छूट जाने पर हमें फिर से कष्ट नहीं उठाने पड़ते। इसीलिए वेदों की शिक्षा है कि मनुष्य यह वास्तव में समझे कि वह पदार्थ नहीं, अपितु ब्रह्म है (*अहं ब्रह्मास्मि*)। यह समझ तब तक नहीं आ पाती जब तक कोई *ब्रह्मकर्म* अर्थात् भक्ति में प्रवृत्त नहीं हो जाता। भौतिक स्थिति से छुटकारा पाने के लिए मनुष्य को कृष्णभावनामृत अपनाना आवश्यक है और वही एकमात्र उपचार है।

अथात्मनोऽर्थभूतस्य यतोऽनर्थपरम्परा ।

संसृतिस्तद्व्यवच्छेदो भक्त्या परमया गुरौ ॥ ३६ ॥

वासुदेवे भगवति भक्तियोगः समाहितः ।
सध्रीचीनेन वैराग्यं ज्ञानं च जनयिष्यति ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

अथ—अतः; आत्मनः—जीव का; अर्थ-भूतस्य—वास्तविक रुचि वाले का; यतः—जिससे; अनर्थ—अवांछित वस्तुओं का; परम्-परा—शृंखला; संसृतिः—संसार; तत्—उसका; व्यवच्छेदः—विच्छेद, रुकना; भक्त्या—भक्ति से; परमया—शुद्ध; गुरौ—परमेश्वर या उसके प्रतिनिधि को; वासुदेवे—वासुदेव में; भगवति—भगवान्; भक्ति-योगः—भक्ति; समाहितः—एकाग्रचित्त; सध्रीचीनेन—पूर्ण रूप से; वैराग्यम्—विरक्ति; ज्ञानम्—पूर्णज्ञान; च—तथा; जनयिष्यति—प्रकट करता है।अतः; आत्मनः—जीव का; अर्थ-भूतस्य—वास्तविक रुचि वाले का; यतः—जिससे; अनर्थ—अवांछित वस्तुओं का; परम्-परा—शृंखला; संसृतिः—संसार; तत्—उसका; व्यवच्छेदः—विच्छेद, रुकना; भक्त्या—भक्ति से; परमया—शुद्ध; गुरौ—परमेश्वर या उसके प्रतिनिधि को; वासुदेवे—वासुदेव में; भगवति—भगवान्; भक्तियोगः—भक्ति; समाहितः—एकाग्रचित्त; सध्रीचीनेन—पूर्ण रूप से; वैराग्यम्—विरक्ति; ज्ञानम्—पूर्णज्ञान; च—तथा; जनयिष्यति—प्रकट करता है।

जीव का वास्तविक हित इसमें है कि वह अविद्या से निकले जिसके कारण उसे बारम्बार जन्म तथा मृत्यु सहनी पड़ती है। इसका एकमात्र निवारण है भगवान् के प्रतिनिधि के माध्यम से उनकी ही शरण ग्रहण करना। जब तक मनुष्य भगवान् वासुदेव की भक्ति नहीं करता, तब तक वह न तो इस भौतिक जगत से पूर्णतः विरक्त हो सकता है और न अपने असली ज्ञान को ही प्रकट कर सकता है।

तात्पर्य : कृत्रिम भौतिक परिस्थिति से विरक्त होने का यही उपाय है। इसका एकमात्र निवारण है कृष्णभावनामृत को अपनाना और भगवान् वासुदेव की भक्ति में निरन्तर लगे रहना। प्रत्येक व्यक्ति सुखी रहने का प्रयास करता है और इस सुख को प्राप्त करने के लिए जो विधि अपनाई जाती है, वह स्वार्थ कहलाती है। दुर्भाग्यवश इस संसार के भीतर भटकता बद्धजीव यह नहीं जानता कि उसके स्वार्थ का चरम लक्ष्य वासुदेव है। संसृति का प्रारम्भ मोहग्रस्त देहात्मबुद्धि से होता है और इसके फलस्वरूप अनेक अवांछित वस्तुओं की शृंखला (अनर्थ) प्रारम्भ हो जाती है। ये अवांछित वस्तुएँ इन्द्रियतृप्ति के लिए वस्तुतः मानसिक आकांक्षाएँ हैं। इस प्रकार मनुष्य इस संसार में विभिन्न प्रकार के शरीरों को धारण करता है। मनुष्य को पहले मन को वश में करना होता है, जिससे मन की आकांक्षाओं की शुद्धि हो सके। यह विधि *नारद-पञ्चरात्र* में *सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं तत्परत्वेन निर्मलम्* के रूप में वर्णित है। जब तक मन शुद्ध नहीं हो जाता, इस भौतिक स्थिति से छुटकारा पाने का प्रश्न ही नहीं उठता। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (१.७.६) में कहा गया है—

अनर्थोपशमं साक्षाद् भक्तियोगमधोक्षजे।

लोकस्याजानतो विद्वांश्चक्रे सात्वतसंहिताम्॥

''जीव के भौतिक क्लेश, जो उसके लिए व्यर्थ हैं, भक्ति की विधि अपना लेने से दूर किये जा सकते हैं। किन्तु सर्वसाधारण इसे नहीं जानता, अत: विद्वान् व्यासदेव ने इस वैदिक साहित्य का संकलन किया जो परम सत्य से सम्बन्धित है।'' *अनर्थ* अर्थात् अवांछित वस्तुएँ एक जीवन से दूसरे तक चलती रहती हैं। इस बन्धन से निकलने के लिए मनुष्य को पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् वासुदेव, कृष्ण की भक्ति करनी होती है। इस प्रसंग में *गुरु* शब्द महत्त्वपूर्ण है। इसका अर्थ ''भारी'' या ''श्रेष्ठ'' के रूप में किया जा सकता है। श्रील ऋषभदेव ने अपने पुत्रों को उपदेश दिया था—*गुरुर्न स स्यात्...न मोचयेद् य: समुपेतमृत्युम्*—''जब तक अपने शिष्य को जन्म-मृत्यु के आवागमन से बाहर न निकाल सके, मनुष्य को चाहिए कि वह गुरु का पद स्वीकार न करे (भागवत ५.५.१८)। यह संसार वास्तव में विभिन्न प्रकार के कर्मों की क्रिया-प्रतिक्रिया (घात-प्रतिघात) की शृंखला है। यही जन्म तथा मृत्यु का कारण है। इस क्रिया को वासुदेव की सेवा में लग कर ही रोका जा सकता है।

भक्ति उन कार्यों को सूचित करती है, जो भगवान् वासुदेव की सेवा में सम्पन्न किये जाते हैं। चूँकि भगवान् वासुदेव सर्वश्रेष्ठ हैं, अत: मनुष्य को देवताओं की सेवा न करके उन्हीं की सेवा में लगना चाहिए। भक्ति का शुभारम्भ नवदीक्षित अवस्था से लेकर भगवान् की प्रेमाभक्ति तक विस्तारित है। सभी अवस्थाओं का अभिप्राय भगवान् वासुदेव को प्रसन्न करना है। जब मनुष्य वासुदेव की भक्ति में अत्यधिक अग्रसर हो जाता है, तो वह शरीर की सेवा से पूर्ण रूप से विरक्त हो जाता है और इस प्रकार विरक्त होकर वह ज्ञान में पारंगत हो जाता है और भगवान् वासुदेव की सेवा में संलग्न होता है। श्री चैतन्य महाप्रभु का कहना है—*जीवेर 'स्वरूप' हय—कृष्णेर 'नित्य दास'*—''प्रत्येक जीव अपनी स्वाभाविक स्थिति के फलस्वरूप कृष्ण का चिर दास है।'' ज्योंही वह भगवान् वासुदेव की भक्ति प्रारम्भ करता है उसे उसकी स्वाभाविक स्थिति प्राप्त हो जाती है। यह स्थिति मुक्त अवस्था कहलाती है। *मुक्तिर्हित्वान्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थिति:*—मुक्त अवस्था में मनुष्य अपनी मूल कृष्णभक्ति स्थिति में रहता है। वह ''मैं'' तथा ''मेरा'' के मोह के अन्तर्गत सम्पन्न की जाने वाली अनेक प्रकार की सेवाओं—सामाजिक सेवा, राष्ट्रीय सेवा, जाति सेवा, कुत्ते की सेवा, वाहन—सेवा आदि—को तिलांजलि दे देता है।

जैसाकि *भागवत* (१.२.७) में व्याख्या की गई है—

वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः।

जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं च यदहैतुकम्॥

"श्रीकृष्ण की भक्ति करके मनुष्य तुरन्त अहैतुक ज्ञान तथा इस संसार से विरक्ति प्राप्त कर लेता है।" इस प्रकार मनुष्य को किसी भौतिक इच्छा, मानसिक चिन्तन या कर्म के बिना वासुदेव की सेवा में लग जाना चाहिए।

सोऽचिरादेव राजर्षे स्यादच्युतकथाश्रयः ।
शृण्वतः श्रद्दधानस्य नित्यदा स्यादधीयतः ॥ ३८॥

शब्दार्थ

सः—वह; अचिरात्—शीघ्र; एव—ही; राज-ऋषे—हे राजाओं में श्रेष्ठ; स्यात्—हो जाता है; अच्युत—भगवान् की; कथा—आख्यानों पर; आश्रयः—आश्रित; शृण्वतः—सुनने वाले; श्रद्दधानस्य—श्रद्धावान; नित्यदा—सदैव; स्यात्—हो जाता है; अधीयतः—अनुशीलन द्वारा।

हे राजर्षि, जो श्रद्धावान् है, जो भगवान् की महिमा का निरन्तर श्रवण करता रहता है, जो सदैव कृष्णचेतना के अनुशीलन तथा भगवान् के कार्यकलापों को सुनने में लगा रहता है, वह शीघ्र ही भगवान् का साक्षात्कार करने के योग्य हो जाता है।

तात्पर्य : वासुदेव की दिव्य प्रेमा-भक्ति में निरन्तर लगे रहने का अर्थ है भगवान् के गुणों को निरन्तर सुनते रहना। भक्तियोग के सिद्धान्त हैं—*श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् /अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनं*—ये एकमात्र साधन हैं जिनसे सिद्धि प्राप्त की जा सकती है। भगवान् के गुणों के श्रवण मात्र से मनुष्य दिव्य पद को प्राप्त करता है।

यत्र भागवता राजन्साधवो विशदाशयाः ।
भगवद्गुणानुकथनश्रवणव्यग्रचेतसः ॥ ३९॥

तस्मिन्महन्मुखरिता मधुभिच्चरित्र-
पीयूषशेषसरितः परितः स्रवन्ति ।
ता ये पिबन्त्यवितृषो नृप गाढकर्णै-
स्तान्न स्पृशन्त्यशनतृड्भयशोकमोहाः ॥ ४०॥

शब्दार्थ

यत्र—जहाँ; भागवताः—परमभक्तगण; राजन्—हे राजा; साधवः—साधु पुरुष; विशद-आशयाः—विशाल हृदय वाले; भगवत्—भगवान् के; गुण—गुण; अनुकथन—नियमित रूप से पाठ करना; श्रवण—सुनना; व्यग्र—उत्सुक; चेतसः—

जिसकी चेतना; तस्मिन्—वहाँ; महत्—महापुरुषों का; मुखरिताः—मुखों से निकला; मधु-भित्—मधु नामक असुर के मारने वाले का; चरित्र—कार्यकलाप या चरित्र; पीयूष—अमृत का; शेष—अधिक; सरितः—नदियाँ; परितः—चारों ओर; स्रवन्ति—बहती हैं; ताः—वे सब; ये—जो; पिबन्ति—पीते हैं; अवितृषः—सन्तुष्ट हुए बिना; नृप—हे राजा; गाढ—सावधान; कर्णैः—कानों से; तान्—उनको; न—कभी नहीं; स्पृशन्ति—स्पर्श करते हैं; अशन—भूख; तृट्—प्यास; भय—डर; शोक—दुख; मोहाः—मोह।

हे राजन्, जिस स्थान में शुद्ध भक्त विधि-विधानों का पालन करते हुए तथा इस प्रकार से नितान्त सचेष्ट रहते हुए एवं उत्सुकतापूर्वक भगवान् के गुणों का श्रवण एवं कीर्तन करते रहते हैं उस स्थान में यदि किसी को अमृत के निरन्तर प्रवाह को सुनने का अवसर प्राप्त हो तो वह जीवन की आवश्यकताएँ—भूख तथा प्यास—भूल जायेगा और समस्त प्रकार के भय, शोक तथा मोह के प्रति निश्चेष्ट हो जायेगा।

तात्पर्य : कृष्णचेतना का अनुशीलन वहीं सम्भव है जहाँ महान् भक्त एकसाथ रहते हैं और भगवान् के गुणों का श्रवण तथा कीर्तन करते रहते हैं। वृन्दावन जैसे पवित्र स्थानों में अनेक भक्त भगवान् के गुणों का निरन्तर श्रवण तथा कीर्तन करते रहते हैं। यदि ऐसे स्थान में भक्तों के मुख से निरन्तर अमृत की धारा बहते हुए अनुभव करने का अवसर मिल पाये तो कृष्णचेतना का अनुशीलन अत्यन्त सरल हो जाता है। जब मनुष्य भगवान् के गुणों का निरन्तर श्रवण करता है, तो वह देहात्मबुद्धि से ऊपर उठ जाता है। देहात्मबुद्धि होने पर उसे भूख, प्यास, भय, शोक तथा मोह सताते हैं। किन्तु यदि वह भगवान् के गुणों का श्रवण तथा कीर्तन करता रहता है, तो वह देहात्मबुद्धि से आगे निकल जाता है।

भगवद्गुणानुकथनश्रवणव्यग्रचेतसः पद का अर्थ है "ऐसा स्थान खोजने के लिए सदैव उत्सुक रहना जहाँ भगवान् के गुणों का श्रवण तथा कीर्तन होता हो।" इस श्लोक में यह पद महत्त्व पूर्ण है। एक व्यापारी ऐसे स्थान में जाने के लिए उत्सुक रहता है जहाँ व्यापार होता हो। इसी प्रकार एक भक्त मुक्त भक्तों के मुखारविन्द से सुनने के लिए व्यग्र रहता है और ज्योंही उसे मुक्त भक्तों से भगवान् की महिमा सुनने को मिलती है, वह तुरन्त कृष्णचेतना से पूरित हो उठता है। इसकी पुष्टि *भागवत* (३.२५.२५) में अन्यत्र भी हुई है—

सतां प्रसङ्गान्मम वीर्यसंविदो

भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः।

तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि

श्रद्धा रतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति ॥

"शुद्ध भक्तों की संगति में भगवान् की लीलाओं तथा कार्यकलापों की विवेचना कानों तथा हृदय को अत्यन्त सुखद तथा सन्तुष्ट करनेवाली हैं। ऐसे ज्ञान के अनुशीलन से मनुष्य क्रमशः मुक्तिपथ पर अग्रसर होता है। फिर वह मुक्त हो जाता है और उसकी आसक्ति स्थिर हो जाती है, तत्पश्चात् वास्तविक भक्ति प्रारम्भ होती है।" (भागवत ३.२५.२५) शुद्ध भक्त की संगति से मनुष्य भगवान् के गुणों को सुनने और कीर्तन करने में अनुरक्त होता है। इस प्रकार वह कृष्णचेतना का अनुशीलन कर सकता है और अनुशीलन की प्रगति के साथ ही भगवान् के प्रति उसकी श्रद्धा तथा भक्ति बढ़ती जाती है और वह शीघ्र ही पूर्ण कृष्णचेतना प्राप्त कर लेता है। कृष्णचेतना अनुशीलन की सफलता का रहस्य है उपयुक्त व्यक्ति से श्रवण करना। कृष्णभावनाभावित व्यक्ति कभी भी शारीरिक आवश्यकताओं—भोजन, नींद, मैथुन, सुरक्षा—से विचलित नहीं होता।

एतैरुपद्रुतो नित्यं जीवलोकः स्वभावजैः ।
न करोति हरेर्नूनं कथामृतनिधौ रतिम् ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

एतैः—इनसे; उपद्रुतः—विचलित; नित्यम्—सदैव; जीव-लोकः—भौतिक संसार में बद्धजीव; स्व-भाव-जैः—प्राकृतिक; न करोति—नहीं करता; हरेः—भगवान् का; नूनम्—निश्चय ही; कथा—शब्दों के; अमृत—अमृत के; निधौ—समुद्र में; रतिम्—आसक्ति।

चूँकि बद्धजीव सदैव भूख तथा प्यास जैसी शारीरिक आवश्यकताओं से विचलित होता रहता है, अतः उसे भगवान् की अमृतवाणी सुनने का अनुराग उत्पन्न करने के लिए बहुत कम समय मिल पाता है।

तात्पर्य : भक्तों की संगति के बिना कृष्णचेतना का अनुशीलन सम्भव नहीं है। नवदीक्षित के लिए एकान्त स्थान में कृष्णचेतना का अनुशीलन—*निर्जन-भजन*—सम्भव नहीं है, क्योंकि उसे शारीरिक आवश्यकताएँ (भोजन, नींद, मैथुन, सुरक्षा) सताती रहेंगी। इस प्रकार से विचलित रहने से कृष्णचेतना का अनुशीलन सम्भव नहीं है। अतः हम देखते हैं कि, "सहजिया" भक्त, जो प्रत्येक वस्तु को सहज मानते हैं, वे सिद्ध भक्तों की संगति नहीं करते। ऐसे व्यक्ति भक्ति के नाम पर नाना प्रकार के पापकर्म—यथा अवैध स्त्री-प्रसंग, मद्यपान, द्यूत-क्रीड़ा तथा मांसाहार—करते हैं। ऐसे अनेक तथाकथित भक्त हैं, जो इस प्रकार के पापकर्मों में लगे रह कर अपने को भक्त कहते हैं। दूसरे शब्दों में, जो व्यक्ति पापकर्म

करता है उसे कृष्णभक्त नहीं माना जा सकता। पापकर्मों में रत व्यक्ति कृष्णचेतना विकसित नहीं कर सकता, जैसाकि इस श्लोक में इंगित किया गया है।

प्रजापतिपतिः साक्षाद्भगवान्गिरिशो मनुः ।
दक्षादयः प्रजाध्यक्षा नैष्ठिकाः सनकादयः ॥ ४२ ॥
मरीचिरत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः ।
भृगुर्वसिष्ठ इत्येते मदन्ता ब्रह्मवादिनः ॥ ४३ ॥
अद्यापि वाचस्पतयस्तपोविद्यासमाधिभिः ।
पश्यन्तोऽपि न पश्यन्ति पश्यन्तं परमेश्वरम् ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ

प्रजापति-पतिः—समस्त प्रजापतियों के पिता, ब्रह्माजी; साक्षात्—प्रत्यक्ष; भगवान्—अत्यन्त शक्तिमान; गिरिशः—शिवजी; मनुः—मनु; दक्ष-आदयः—राजा दक्ष इत्यादि; प्रजा-अध्यक्षाः—मनुष्यों के शासक; नैष्ठिकाः—प्रबल ब्रह्मचारी; सनक-आदयः—सनक इत्यादि; मरीचिः—मरीचि; अत्रि-अङ्गिरसौ—अत्रि तथा अंगिरा; पुलस्त्यः—पुलस्त्य; पुलहः—पुलह; क्रतुः—क्रतु; भृगुः—भृगु; वसिष्ठः—वसिष्ठ; इति—इस प्रकार; एते—ये सब; मत्-अन्ताः—मुझसे अन्त होने वाले; ब्रह्म-वादिनः—ब्राह्मण, वैदिक साहित्य के वक्ता; अद्य अपि—आज तक; वाचः-पतयः—वाणी के स्वामी; तपः—तपस्या; विद्या—ज्ञान; समाधिभिः—तथा ध्यान से; पश्यन्तः—देखते हुए; अपि—यद्यपि; न पश्यन्ति—नहीं देखते; पश्यन्तम्—देखने वाला; परम-ईश्वरम्—भगवान् को।

समस्त प्रजापतियों के पिता परम शक्तिशाली ब्रह्माजी; शिव; मनु, दक्ष तथा मानवजाति के अन्य शासक; प्रथम कोटि के ब्रह्मचारी सनक, सनातन इत्यादि चारों परम साधु; मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, भृगु तथा वसिष्ठ जैसे महर्षि; तथा स्वयं मैं (नारद)—ये सभी महान् ब्राह्मण हैं, जो वैदिक साहित्य पर अधिकारपूर्वक बोल सकते हैं। हम सब तप, ध्यान तथा ज्ञान के कारण अत्यन्त शक्तिशाली हैं। तो भी भगवान् को साक्षात् देखते हुए और अन्वेषण करने पर भी हम उनके विषय में पूर्णतः नहीं जानते।

तात्पर्य : नृतत्त्वशास्त्रियों के फूहड़ डार्विन सिद्धान्त के अनुसार बुद्धिमान प्राणी चालीस हजार वर्ष पूर्व इस लोक पर प्रकट नहीं हुए थे, क्योंकि उस काल तक विकास की क्रिया वहाँ तक नहीं पहुँच पाई थी। किन्तु पुराण तथा महाभारत जैसे वैदिक इतिहास ग्रन्थ बताते हैं कि लाखों वर्ष पूर्व से मानव इतिहास प्रारम्भ होता है। सृष्टि के प्रारम्भ में ब्रह्मा नामक अत्यन्त बुद्धिमान व्यक्ति था, जिससे समस्त मनु, सनक तथा सनातन जैसे ब्रह्मचारी, शिव तथा नारद इत्यादि ऋषि उत्पन्न हुए। इन सभी महापुरुषों ने महान् तपस्याएँ कीं और वे वैदिक साहित्य के अधिकारी बने। वेदों में मनुष्यों तथा समस्त जीवों का पूर्ण ज्ञान निहित है। उपर्युक्त सारे महापुरुष न केवल शक्तिमान हैं—भूत, भविष्य और वर्तमान के द्रष्टा

हैं—वरन् उसी के साथ भक्त भी हैं। फिर भी इतने ज्ञानी होने और भगवान् विष्णु का साक्षात्कार करने पर भी वे भगवान् विष्णु एवं जीव के पारस्परिक सम्बन्ध को पूर्ण रूप से नहीं समझ पाते। इसका अभिप्राय यह है कि इन महापुरुषों का भी अनन्त-विषयक ज्ञान अत्यन्त सीमित है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि केवल ज्ञान में आगे बढ़ जाने से किसी को भगवान् विषयक ज्ञान में दक्ष नहीं माना जा सकता। भगवान् को उच्च ज्ञान से नहीं, अपितु शुद्ध भक्ति से समझा जा सकता है, जिसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (१८.५५) में हुई है— *भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः*—जब तक मनुष्य शुद्ध दिव्य भक्ति नहीं करता तब तक वास्तविक रूप में वह भगवान् को नहीं समझ सकता है। हर व्यक्ति को भगवान् के विषय में कुछ-न-कुछ ज्ञान होता है। तथाकथित वैज्ञानिक तथा चिन्तक (ज्ञानी) अपने ज्ञान के बल पर परमेश्वर को समझने में असमर्थ हैं। जब तक मनुष्य भक्ति के स्तर तक नहीं उतरता तब तक ज्ञान पूर्ण नहीं होता। इसकी पुष्टि *भागवत* से (१०.१४.२९) होती है—

अथापि ते देव पदाम्बुजद्वयप्रसादलेशानुगृहीत एव हि।

जानाति तत्त्वं भगवन्महिम्नो न चान्य एकोऽप चिरं विचिन्वन्॥

ज्ञानी लोग हजारों वर्षों तक परमेश्वर के विषय में चिन्तन करते रहते हैं, किन्तु जब तक भगवान् की कृपा नहीं होती तब तक उनकी महिमा समझ में नहीं आती। इस श्लोक में जिन ऋषियों का उल्लेख है वे सब उस ब्रह्मलोक के निकटवर्ती लोकों में रहते हैं, जहाँ सनक, सनातन, सनन्दन तथा सनत्कुमार इन चार ऋषियों सहित ब्रह्मा निवास करते हैं। ये ऋषि विभिन्न नक्षत्रों में रहते हैं, जिन्हें दक्षिणी नक्षत्र कहा जाता है और जो ध्रुवतारा के चारों ओर हैं। ध्रुवतारा अथवा ध्रुवलोक इस ब्रह्माण्ड की खूँटी (केन्द्र) है और सारे नक्षत्र इसके चारों ओर घूमते हैं। जहां तक हम देख सकते हैं सभी नक्षत्र इस ब्रह्माण्ड के लोक हैं। पाश्चात्य सिद्धान्त के अनुसार समस्त नक्षत्रगण विभिन्न सूर्य हैं, किन्तु वैदिक जानकारी के अनुसार इस ब्रह्माण्ड में केवल एक ही सूर्य है। समस्त तथाकथित नक्षत्र विभिन्न लोक हैं। इस ब्रह्माण्ड के अतिरिक्त लाखों अन्य ब्रह्माण्ड हैं और इनमें से प्रत्येक में वैसे ही असंख्य नक्षत्र तथा लोक हैं।

शब्दब्रह्मणि दुष्पारे चरन्त उरुविस्तरे ।

मन्त्रलिङ्गैर्व्यवच्छिन्नं भजन्तो न विदु: परम् ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

शब्द-ब्रह्मणि—वैदिक साहित्य में; दुष्पारे—अनन्त; चरन्त:—लगे हुए; उरु—अत्यधिक; विस्तरे—व्यापक; मन्त्र—वैदिक मंत्रों का; लिङ्गै:—लक्षणों से; व्यवच्छिन्नम्—आंशिक शक्तिशाली (देवता); भजन्त:—पूजा करते हुए; न विदु:—नहीं जानते; परम्—परमेश्वर।

अनन्त वैदिक ज्ञान के अनुशीलन तथा वैदिक मंत्रों के लक्षणों से विभिन्न देवताओं की पूजा के बावजूद देव-पूजा से परम शक्तिशाली भगवान् को समझने में कोई सहायता नहीं मिलती।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (७.२०) में कहा गया है—

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञाना: प्रपद्यन्तेऽन्यदेवता: ।

तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियता: स्वया ॥

"जिनके मन भौतिक इच्छाओं के द्वारा विकृत हो चुके हैं, वे देवताओं की शरण में जाते हैं और अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार वे पूजा के विशिष्ट विधि-विधानों का पालन करते हैं।" अधिकांश लोग शक्ति प्राप्त करने के लिए देवताओं की पूजा करना चाहते हैं। प्रत्येक देवता की विशिष्ट शक्ति होती है। उदाहरणार्थ, स्वर्ग के राजा इन्द्र में पृथ्वी के ऊपर वर्षा करने की शक्ति है, जिससे पृथ्वी पर प्रचुर वनस्पति उत्पन्न हो सके। इस देवता का वर्णन वेदों में इस प्रकार हुआ है—*वज्रहस्त: पुरन्दर: ।* इन्द्र हाथ में व्रज धारण किये हुए जल-पूर्ति पर शासन करता है। यह वज्र इन्द्र द्वारा नियंत्रित है। इसी प्रकार अन्य देवता अग्नि, वरुण, चन्द्र, सूर्य—विशिष्ट शक्तियों से युक्त हैं। वैदिक मंत्रों में इन समस्त देवताओं को प्रतीकात्मक आयुध द्वारा पूजा जाता है। इसीलिए यहाँ पर कहा गया है—*मन्त्रलिंगैर्व्यवच्छिन्नम् ।* ऐसी पूजा से कर्मियों को पशु, धन, सुन्दर पत्नी, अनेक दास इत्यादि के रूप में ऐश्वर्य का वरदान प्राप्त होता है। किन्तु ऐसे ऐश्वर्य से वह भगवान् को नहीं जान पाता।

यदा यस्यानुगृह्णाति भगवानात्मभावित: ।
स जहाति मतिं लोके वेदे च परिनिष्ठिताम् ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

यदा—जब; यस्य—जिसका; अनुगृह्णाति—अहैतुकी कृपा करता है; भगवान्—भगवान्; आत्म-भावित:—भक्त द्वारा अनुभूत; स:—ऐसा भक्त; जहाति—त्यागता है; मतिम्—चेतना; लोके—भौतिक जगत में; वेदे—वैदिक कार्यों में; च—भी; परिनिष्ठिताम्—स्थिर।

जब मनुष्य पूर्णत: भक्ति में लगा रहता है, तो अहैतुकी कृपा प्रदर्शित करने वाले भगवान् उस पर कृपा करते हैं। ऐसे अवसर पर जाग्रत भक्त सारे भौतिक कार्यों तथा वेदों में वर्णित

अनुष्ठानों को त्याग देता है।

तात्पर्य : पिछले श्लोक में बताया गया है कि ज्ञानी लोग भगवान् को जान पाने में असमर्थ रहते हैं। उसी प्रकार इस श्लोक में इंगित किया गया है कि जो लोग वैदिक अनुष्ठानों तथा सकाम कर्मों का पालन करते हैं, वे भी भगवान् का दर्शन करने में असमर्थ रहते हैं। दोनों श्लोकों में कर्मियों तथा ज्ञानियों को भगवान् को समझने के लिए अयोग्य बताया गया है। जैसाकि श्रील रूप गोस्वामी ने वर्णन किया है, जब मनुष्य ज्ञान तथा कर्म से पूर्णरूपेण मुक्त हो जाता है, तो वह भौतिक इच्छाओं से दूषित हुए बिना शुद्ध भक्ति में लग सकता है (*अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्*) । *आत्मभावित:* शब्द अत्यन्त सार्थक है, जो यह बताता है कि यदि मनुष्य निरन्तर भगवान् का चिन्तन करता है, तो वे उसके मन में जागते हैं। शुद्ध भक्त निरन्तर भगवान् के चरणकमलों का चिन्तन करता रहता है (*स वै मन: कृष्ण पदारविन्दयो:*)। शुद्ध भक्त भगवान् के विचारों में मग्न रहे बिना एक क्षण भी नहीं रह सकता। *भगवद्गीता* में भगवान् का यह निरन्तर चिन्तन *सतत युक्तानाम्* के रूप में वर्णित है। *भजतां प्रीतिपूर्वकम्*—यह प्रेमाभक्ति है। चूँकि भगवान् भक्त के अन्त:करण से आदेश देता है, अत: भक्त सभी प्रकार के भौतिक कर्मों से बच जाता है। यहाँ तक कि वैदिक अनुष्ठानों को भी भौतिक कर्म माना जाता है, क्योंकि ऐसे कार्यों से मनुष्य अन्य लोकों में, जो देवताओं के वासस्थान हैं, चला जाता है। *भगवद्गीता* (९.२५) में भगवान् कृष्ण कहते हैं—

यान्ति देवव्रता देवान्पितृन्यान्ति पितृव्रता: ।

भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥

''जो लोग देवाताओं की पूजा करते हैं, वे देवताओं के बीच जन्म लेते हैं, जो भूतप्रेतों की पूजा करते हैं, वे उनके बीच जन्म लेते हैं; जो अपने पूर्वजों को पूजते हैं, वे पितरों के पास जाते हैं और जो मेरी पूजा करते हैं, वे मेरे पास रहते हैं।''

आत्मभावित: शब्द यह भी सूचित करता है कि भक्त सदैव बद्धजीवों को छुटकारा दिलाने के लिए उपदेश देता रहता है। षड्गोस्वामियों के विषय में कहा जाता है—*नानाशास्त्र विचारणैकनिपुणौ सद्धर्मसंस्थापकौ लोकानां हितकारिणौ*। भगवान् का शुद्ध भक्त सदैव सोचता रहता है कि किस प्रकार पतित बद्धजीवों का उद्धार किया जाये। भक्तों द्वारा पतित जीवों का उद्धार करने के प्रयास से प्रभावित

होकर भगवान् अपनी अहैतुकी कृपावश अन्त:करण से ही सभी लोगों को प्रकाश देते हैं। यदि एक भक्त दूसरे से आशीर्वाद प्राप्त करता है, तो वह *कर्म-काण्ड* तथा *ज्ञान-काण्ड* के कर्मों से मुक्त हो जाता है। जैसी कि *ब्रह्म-संहिता* में पुष्टि हुई है— *वेदेषु दुर्लभम्*—श्रीभगवान् को कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड के द्वारा नहीं जाना जा सकता। *अदुर्लभम् आत्म-भक्तौ*—भगवान् केवल निष्ठावान् भक्त द्वारा जाना जाता है।

इस दृश्य जगत की उत्पत्ति भगवान् द्वारा होती है और सारे जीव यहाँ पर सुख भोगने के लिए आये हैं। विभिन्न यम-नियमों द्वारा वैदिक आदेशों के अनुसार उनका पथ-प्रदर्शन होता है और बुद्धिमान मनुष्य इन आदेशों से लाभ उठाते हैं। इस प्रकार वे अविचल भाव से भौतिक जीवन का भोग करते हैं। यह वास्तव में मोह है और इस मोह से अपने आप निकल पाना कठिन है। सामान्य जन भौतिक कार्यों (*कर्मकाण्ड*) में लगे रहते हैं और जब वे कुछ उन्नति कर लेते हैं, तो वे वेदवर्णित अनुष्ठानों के प्रति आकृष्ट होते हैं। किन्तु इन अनुष्ठानों से निराश होकर वे पुन: कर्मकाण्ड की ओर बढ़ते हैं। इस प्रकार वे कर्मकाण्ड तथा वैदिक अनुष्ठान, इन दोनों का पालन करने वाले बद्धजीवन में फँस जाते हैं। ऐसे लोग गुरु तथा कृष्ण की कृपा से ही भक्ति-बीज प्राप्त कर पाते हैं। इसकी पुष्टि *श्रीचैतन्य-चरितामृत* में हुई है— *गुरु कृष्ण प्रसादे पाय भक्तिलताबीज।*

जब मनुष्य भक्ति में लग जाता है, तो कर्मकाण्ड उसे नहीं खींच पाते। जब मनुष्य अनेक उपाधियों से घिरा रहता है, तो वह भक्ति नहीं कर सकता। उसे ऐसे उपाधि वाले कार्यों से मुक्त (*सर्वोपाधि विनिर्मुक्तम्*) और शुद्ध होना पड़ता है, जिससे वह शुद्ध इन्द्रियों से भगवान् की सेवा कर सके। *हृषीकेण हृषीकेशसेवनं भक्तिरुच्यते*—शुद्ध इन्द्रियों से भगवान् की सेवा भक्तियोग कहलाती है। परमात्मा निष्ठावान् भक्त की सदा सहायता करता है, क्योंकि वह प्रत्येक जीव के हृदय में स्थित है, जिसकी पुष्टि श्रीकृष्ण ने *भगवद्गीता* (१०.१०) में इस प्रकार की है—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।

ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

''जो लोग निरन्तर मेरी भक्ति करते हैं और प्रेमपूर्वक मेरी पूजा करते हैं, उन्हें मैं बुद्धि देता हूँ जिससे वे मेरे पास आ सकते हैं।''

भौतिक जगत के कल्मष से मुक्त होने की यही अवस्था है। ऐसे अवसर पर भक्त अन्य भक्त को अपना मित्र बनाता है और तब उसके भौतिक कार्यकलाप पूर्ण रूप से बन्द हो जाते हैं। तब उसे भगवान् की कृपा प्राप्त होती है और भौतिक सभ्यता से उसकी श्रद्धा उठ जाती है, जो वर्णाश्रम धर्म के साथ प्रारम्भ होती है। श्री चैतन्य महाप्रभु स्पष्ट कहते हैं कि मनुष्य को वर्णाश्रम धर्म से मुक्त हो जाना चाहिए। तब वह अपने आपको भगवान् कृष्ण का चिर सेवक समझने लगता है। श्री चैतन्य महाप्रभु ने स्वयं यह स्थिति प्राप्त की थी—

नाहं विप्रो न च नरपतिर्नापि वैश्यो न शूद्रो

नाहं वर्णी न च गृहपतिर्नो वनस्थो यतिर्वा।

किन्तु प्रोद्यन्निखिलपरमानन्दपूर्णामृताब्धे-

र्गोपीभर्तुः पदकमलयोर्दासदासानुदासः॥

(*पद्यावली* ६३)

"मैं न तो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र हूँ, न ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ या संन्यासी हूँ। मैं क्या हूँ? मैं भगवान् कृष्ण के दास के दास का चिर दास हूँ।" शिष्य-परम्परा से मनुष्य इस निष्कर्ष को प्राप्त कर सकता है, जो दिव्य पद की परम सिद्धि है।

तस्मात्कर्मसु बर्हिष्मन्नज्ञानादर्थकाशिषु ।
मार्थदृष्टिं कृथाः श्रोत्रस्पर्शिष्वस्पृष्टवस्तुषु ॥ ४७॥

शब्दार्थ

तस्मात्—अतः; कर्मसु—कर्म में; बर्हिष्मन्—हे राजा प्राचीनबर्हिषत्; अज्ञानात्—अज्ञान से; अर्थ-काशिषु—भड़कीले कर्मफल में; मा—कभी नहीं; अर्थ-दृष्टिम्—जीवन लक्ष्य मानकर; कृथाः—करते हैं; श्रोत्र-स्पर्शिषु—कर्णप्रिय, मधुर; अस्पृष्ट—बिना स्पर्श किये; वस्तुषु—वास्तविक हित, स्वार्थ।

हे राजा बर्हिष्मान्, तुम्हें अज्ञानवश कभी भी वैदिक अनुष्ठानों या सकाम कर्मों को अपनाना नहीं चाहिए, भले ही वे कर्णप्रिय क्यों न हों, अथवा आत्म सिद्धि के लक्ष्य प्रतीत होते हों। तुम्हें चाहिए कि इन्हें कभी भी जीवन का चरम लक्ष्य न समझो।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (२.४२-४३) में कहा गया है—

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।

वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः॥

कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।

क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति॥

''अल्पबुद्धि मनुष्य वेद के उन आलंकारिक वचनों में बहुत आसक्त रहते हैं जिनमें स्वर्ग, उच्चकुल, अधिकार इत्यादि देने वाले नाना प्रकार के सकाम कर्मों का विधान है। भोग और ऐश्वर्य की अभिलाषा के कारण वे कहते हैं कि इससे श्रेष्ठ और कुछ नहीं है।''

सामान्य रूप से लोग वैदिक अनुष्ठानों में बताये सकाम कर्मों के प्रति अत्यधिक आसक्त रहते हैं। राजा बर्हिष्मान् की तरह बड़े-बड़े यज्ञ सम्पन्न करके मनुष्य स्वर्ग लोक जाने की अकांक्षा करता है। श्रीनारद मुनि राजा बर्हिष्मान् को ऐसे सकाम कर्मों से विमुख करना चाह रहे थे। अत: अब वे प्रत्यक्ष उससे कह रहे हैं, ''तुम ऐसे क्षणिक लाभों में रुचि मत दिखलाओ।'' आधुनिक सभ्यता में लोग वैज्ञानिक विधियों से प्रकृति के साधनों का दोहन करना चाहते हैं। असल में इसे ही प्रगति समझा जाने लगा है। किन्तु वास्तव में यह प्रगति नहीं, केवल सुनने में सुखद लगती है। भले ही ऐसी कृत्रिम विधियों से हम प्रगति कर रहे हों, किन्तु हम अपने असली उद्देश्य को भूलते जा रहे हैं। इसीलिए भक्तिविनोद ठाकुर कहते हैं—*जड-विद्या यत मायार वैभव तोमार भजने बाधा*—''भौतिकवादी विद्या मात्र माया की चमक-दमक है, क्योंकि इससे आध्यात्मिक प्रगति में बाधा पहुँचती है।''

इस लोक में या अन्य लोकों में अनुभव किये जाने वाले जीवन के क्षणिक सुखों को मोह समझना चाहिए, क्योंकि वे जीवन के वास्तविक प्रयोजन का स्पर्श भी नहीं करते। जीवन का वास्तविक प्रयोजन तो भगवान् के धाम वापस जाना है। जीवन के वास्तविक प्रयोजन से अनजान रहकर लोग या तो स्थूल भौतिक कार्यों या फिर अनुष्ठानों में प्रवृत्त होते हैं। यहाँ पर राजा बर्हिष्मान् से अनुरोध किया गया है कि वह ऐसे कार्यों में लिप्त न हो। वेदों का कथन है कि जीवन का वास्तविक प्रयोजन यज्ञ करना है। भारतीय जन समुदाय का एक अंश, जिसे आर्यसमाजी कहा जाता है, वेदों के इस यज्ञ सम्बन्धी भाग पर अत्यधिक बल देता है। किन्तु यह श्लोक इंगित करता है कि ऐसे यज्ञों को भ्रामक समझना चाहिए। वस्तुत: मानव जीवन का उद्देश्य ईश्वर-साक्षात्कार या कृष्णभक्ति होना चाहिए। निस्सन्देह, वैदिक अनुष्ठान अत्यन्त चमकदार हैं और सुनने में मधुर लगते हैं, किन्तु उनसे जीवन-उद्देश्य की पूर्ति नहीं होती।

स्वं लोकं न विदुस्ते वै यत्र देवो जनार्दनः ।
आहुर्धूम्रधियो वेदं सकर्मकमतद्विदः ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

स्वम्—अपना, निजी; लोकम्—घर को; न—कभी नहीं; विदुः—जानते हैं; ते—ऐसे व्यक्ति; वै—निश्चय ही; यत्र—जहाँ; देवः—भगवान्; जनार्दनः—कृष्ण या विष्णु; आहुः—कहते हैं; धूम्र-धियः—अल्पज्ञानी व्यक्ति; वेदम्—चारों वेद; स-कर्मकम्—अनुष्ठानों से पूर्ण; अ-तत्-विदः—ऐसे व्यक्ति जिन्हें ज्ञान नहीं है।

अल्पज्ञानी मनुष्य वैदिक अनुष्ठानों को ही सब कुछ मान बैठते हैं। उन्हें यह ज्ञान नहीं है कि वेदों का प्रयोजन अपने निजी धाम (घर) को जानना है जहाँ भगवान् निवास करते हैं। अपने असली धाम में रुचि न रखकर वे मोहग्रस्त होकर, अन्य धामों की खोज करते रहते हैं।

तात्पर्य : सामान्यतः लोग अपने इस जीवन-स्वार्थ से कि भगवान् के धाम वापस जाना है, अपरिचित होते हैं। वे आध्यात्मिक जगत में अपने असली धाम को नहीं जानते। आध्यात्मिक जगत में अनेक वैकुण्ठलोक हैं और सर्वोच्च लोक तो कृष्णलोक या गोलोक वृन्दावन है। सभ्यता की तथाकथित प्रगति के बावजूद लोगों को वैकुण्ठ लोकों की कोई जानकारी नहीं है। इस समय तथाकथित सभ्य लोग अन्य ग्रहों (लोकों) को जाने का प्रयत्न कर रहे हैं, किन्तु वे यह नहीं जानते कि यदि वे सर्वोच्च लोक, ब्रह्मलोक चले भी जाँय तो उन्हें पुनः इस लोक में आना होगा। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (८.१६) में इस प्रकार हुई है—

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥

"हे अर्जुन इस भौतिक जगत में सर्वोच्च लोक से लेकर सबसे निम्न लोक तक के सभी लोक क्लेश के स्थान हैं, जहाँ बारम्बार जन्म-मृत्यु होते रहते हैं। किन्तु हे कुन्तीपुत्र! जो मेरे धाम को प्राप्त कर लेता है, वह पुनः जन्म नहीं लेता।"

यदि कोई इस ब्रह्माण्ड के सर्वोच्च लोक तक पहुँच भी जाता है, तो पुण्यकर्मों के क्षीण हो जाने पर उसे वापस लौटना पड़ता है। अन्तरिक्ष-यान आकाश में भले ही अत्यधिक ऊँचाई प्राप्त कर लें, किन्तु ज्योंही उनका ईंधन समाप्त हो जाता है उन्हें पृथ्वी लोक पर लौट आना पड़ता है। ये सारे कार्य मोहवश सम्पन्न किये जाते हैं। असली प्रयास अब भगवान् के धाम वापस जाने का होना चाहिए। यह विधि *भगवद्गीता* में वर्णित है। *यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्*—जो लोग भगवान् की भक्ति करते हैं, वे

भगवान् के धाम को वापस जाते हैं। मनुष्य-जीवन अत्यन्त मूल्यवान है; अत: मनुष्य को चाहिए कि अन्य लोकों की खोज में इस जीवन को व्यर्थ न गँवाए। उसे इतना बुद्धिमान होना चाहिए कि वह भगवान् के धाम वापस जा सके। उसे आध्यात्मिक वैकुण्ठलोकों के विषय में और विशेष रूप से गोलोक वृन्दावन नामक लोक के विषय में जानने के लिए उत्सुक होना चाहिए और भक्ति जैसी सरल विधि से, जो श्रवण करने से प्रारम्भ होती है (*श्रवणं कीर्तनं विष्णो:*), वहाँ पहुँचने की कला सीखनी चाहिए। इसकी पुष्टि *श्रीमद्भागवत* (१२.३.५१) में भी हुई है—

कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान् गुण:।

कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसङ्ग: परं व्रजेत्॥

केवल हरे कृष्ण मंत्र का कीर्तन करने से मनुष्य परम लोक को जा सकता है (*परं व्रजेत्*)। यह इस युग के लोगों पर विशेष रूप से लागू होता है (*कलेर्दोषनिधे*)। इस युग का विशेष लाभ यह है कि केवल हरे कृष्ण महामंत्र का जप करके मनुष्य समस्त भौतिक कल्मष से शुद्ध होकर घर को अर्थात् भगवान् के धाम वापस जा सकता है। इसमें कोई सन्देह नहीं है।

आस्तीर्य दर्भै: प्रागग्रै: कार्त्स्न्येन क्षितिमण्डलम्
स्तब्धो बृहद्वधान्मानी कर्म नावैषि यत्परम् ।
तत्कर्म हरितोषं यत्सा विद्या तन्मतिर्यया ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

आस्तीर्य—आच्छादित करके; दर्भै:—कुशा से; प्राक्-अग्रै:—पूर्व की ओर मुख किये; कार्त्स्न्येन—सम्पूर्ण; क्षिति-मण्डलम्—संसार भर में; स्तब्ध:—गर्वीली शुरुआत; बृहत्—अत्यधिक, महान्; वधात्—बध के द्वारा; मानी—अपने को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समझने वाला, अभिमानी; कर्म—कर्म; न अवैषि—नहीं जानते हो; यत्—जो; परम्—परम; तत्—उस; कर्म—कर्म; हरि-तोषम्—भगवान् को प्रसन्न करना; यत्—जो; सा—वह; विद्या—शिक्षा; तत्—भगवान् को; मति:—चेतना; यया—जिससे।.

हे राजन्, सारा संसार कुशों के तीखे अग्र भाग से ढका है और इस कारण तुम्हें अभिमान हो गया है क्योंकि तुमने यज्ञों में अनेक प्रकार के पशुओं का वध किया है। अपनी मूर्खतावश तुम्हें यह ज्ञात नहीं है कि भगवान् को प्रसन्न करने का एकमात्र उपाय भक्ति है। तुम इस तथ्य को नहीं समझ सकते। तुम्हें वे ही कार्य करने चाहिए जिनसे भगवान् प्रसन्न हों। हमारी शिक्षा ऐसी होनी चाहिए कि हम कृष्णचेतना के स्तर तक ऊपर उठ सकें।

तात्पर्य : इस श्लोक में नारद मुनि राजा की प्रत्यक्ष भर्त्सना करते हैं, क्योंकि वह ऐसे यज्ञों के

करने में व्यस्त था जिनमें अनेक पशुओं का वध होता था। राजा सोच रहा था कि अनेक यज्ञों को सम्पन्न कर लेने के कारण वह महान् है, किन्तु नारद मुनि उसकी प्रत्यक्ष भर्त्सना करते हैं कि पशु-वध के कारण ही उसे झूठा गर्व है। वास्तव में कोई भी ऐसा कार्य, जो कृष्णचेतना तक नहीं ले जाता, पापकर्म है और ऐसी शिक्षा, जो कृष्ण को समझने में सहायक नहीं होती, झूठी है। यदि कृष्णचेतना का अभाव हो तो मनुष्य केवल मिथ्या कर्मों तथा झूठी शिक्षा में लगा रहता है।

हरिर्देहभृतामात्मा स्वयं प्रकृतिरीश्वरः ।
तत्पादमूलं शरणं यतः क्षेमो नृणामिह ॥ ५० ॥

शब्दार्थ

हरिः—श्रीहरि; देह-भृताम्—देहधारी जीवों का; आत्मा—परमात्मा; स्वयम्—स्वयं; प्रकृतिः—भौतिक प्रकृति; ईश्वरः—नियामक; तत्—उसका; पाद-मूलम्—पाँव; शरणम्—शरण; यतः—जिससे; क्षेमः—सौभाग्य; नृणाम्—मनुष्यों का; इह—इस संसार में।

भगवान् श्रीहरि इस संसार के समस्त देहधारी जीवों के परमात्मा तथा प्रदर्शक हैं। वे प्रकृति के समस्त भौतिक कार्यों के परम नियामक हैं। वे हमारे श्रेष्ठ सखा भी हैं, अतः प्रत्येक व्यक्ति को उनके चरणकमलों की शरण ग्रहण करनी चाहिए। ऐसा करने से जीवन कल्याणमय हो जाएगा।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (१८.६१) में कहा गया है—*ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति*—हे अर्जुन! परमेश्वर हर एक के हृदय में स्थित है। जीवात्मा शरीर के भीतर है और परमात्मा भी वहीं है। वह अन्तर्यामी तथा चैत्य गुरु कहलाता है। जैसाकि भगवान् श्रीकृष्ण *भगवद्गीता* (१५.१५) में कहते हैं, वे हर एक वस्तु का नियंत्रण करते हैं—

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।

"मैं सब प्राणियों के हृदय में बैठा हूँ और मुझी से स्मृति, ज्ञान तथा विस्मृति उत्पन्न हैं।"

हर प्राणी शरीर के भीतर स्थित परमात्मा द्वारा निर्देशित है, अतः अच्छा यही हो कि उनका आदेश ग्रहण करके सुखी रहा जाये। उनका आदेश प्राप्त करने के लिए भक्त होना आवश्यक है। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (१०.१०) में भी हुई है—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।

ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

"जो भक्तिपरायण हैं और प्रेमपूर्वक मेरी पूजा करते हैं, उन्हें मैं बुद्धि देता हूँ जिससे वे मेरे पास आ सकते हैं।"

यद्यपि परमात्मा प्रत्येक प्राणी के हृदय में है (*ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति*) किन्तु वह केवल उन्हीं शुद्ध भक्तों से बात करता है, जो उसकी सेवा में निरन्तर लगे रहते हैं। *चैतन्य भागवत* (अन्त्य ३.४५) में कहा गया है—

ताहारे से बलि विद्या, मन्त्र, अध्ययन।

कृष्ण-पाद-पद्मे ये करये स्थिर मन॥

"जिसने कृष्ण के पादपद्मों में अपना मन स्थिर कर दिया है, समझो कि उसने श्रेष्ठ विद्या प्राप्त कर ली है और सारे वेदों का अध्ययन कर लिया है।" *चैतन्य भागवत* के अन्य उद्धरण भी अत्यन्त उपयुक्त हैं। यथा—

सेइ से विद्यार फल जानिह निश्चय।

कृष्ण-पाद-पद्मे यदि चित्तवृत्ति रय॥

"शिक्षा का उत्तम फल है कि अपने मन को कृष्ण के चरणकमल में लगाया जाये" (आदि १३.१७८)।

'दिग्विजय करिब,'—विद्यार कार्य नहे।

ईश्वरे भजिले, सेइ विद्या 'सत्य' कहे॥

"भौतिक शिक्षा (विद्या) द्वारा संसार को जीत लेना वांछनीय नहीं है। यदि मनुष्य अपने को भक्ति में लगाता है, तो उसकी शिक्षा सार्थक है" (आदि १३.१७३)।

पडे केने लोक—कृष्णभक्ति जानिबारे।

से यदि नहिल, तबे विद्याय कि करे॥

"शिक्षा का उद्देश्य श्रीकृष्ण तथा उनकी भक्ति को समझना है। यदि कोई ऐसा नहीं करता तो उसकी शिक्षा झूठी है" (आदि १२.४९)।

ताहारे से बलि धर्म, कर्म सदाचार।

ईश्वरे से प्रीति जन्मे सम्मत सबार॥

“सुसंस्कृत, शिक्षित, सक्रिय तथा धार्मिक होने का अर्थ है कृष्ण के लिए स्वाभाविक प्रेम विकसित करना” (अन्त्य ३.४४)। प्रत्येक व्यक्ति कृष्ण के लिए प्रच्छन्न प्रेम रखता है और उसे संस्कृति तथा शिक्षा द्वारा जाग्रत करना होता है। कृष्णभावनामृत-आन्दोलन का यही उद्देश्य है। एक बार भगवान् चैतन्य ने श्रीरामानन्द राय से पूछा कि शिक्षा का श्रेष्ठ अंग क्या है, तो उन्होंने उत्तर दिया कि कृष्णचेतना में प्रगति।

स वै प्रियतमश्चात्मा यतो न भयमण्वपि ।
इति वेद स वै विद्वान्यो विद्वान्स गुरुर्हरिः ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; वै—निश्चय ही; प्रिय-तमः—अत्यन्त प्रिय; च—भी; आत्मा—परमात्मा; यतः—जिससे; न—कभी नहीं; भयम्—डर; अणु—सूक्ष्म; अपि—भी; इति—इस प्रकार; वेद—(जो) जानता है; सः—वह; वै—निश्चय ही; विद्वान्—शिक्षित; यः—जो; विद्वान्—शिक्षित; सः—वह; गुरुः—गुरु; हरिः—भगवान् से अभिन्न।

जो भक्ति में लगा हुआ है, वह इस संसार से रंचमात्र भी नहीं डरता। इसका कारण यह है कि पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् परम आत्मा हैं और सबके मित्र हैं। जो इस रहस्य को जानता है, वही वास्तव में शिक्षित है और ऐसा शिक्षित व्यक्ति ही संसार का गुरु हो सकता है। जो वस्तुतः प्रामाणिक गुरु अर्थात् कृष्ण का प्रतिनिधि है, वह कृष्ण से अभिन्न होता है।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर कहते हैं—*साक्षाद्-धरित्वेन समस्त शास्त्रै-रुक्तस्तथा भाव्यत एव सद्भिः।* हर शास्त्र में गुरु को परमेश्वर का प्रतिनिधि कहा गया है। गुरु को भगवान् से अभिन्न समझा जाता है, क्योंकि वह भगवान् का परम विश्वासपात्र दास होता है (*किन्तु प्रभोर्यः प्रिय एव तस्य*)। तात्पर्य यह कि परमात्मा तथा आत्मा एक दूसरे को परमप्रिय हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपने आपसे प्यार करता है, किन्तु जब वह आगे बढ़ जाता है, तो वह परमात्मा को भी प्यार करने लगता है। स्वरूपसिद्ध व्यक्ति परमात्मा के अतिरिक्त अन्य किसी की पूजा करने की संस्तुति नहीं करता। वह जानता है कि काम तथा भौतिक सुख से प्रभावित होकर देवताओं की पूजा करने की अपेक्षा भगवान् की पूजा करना सरल है, अतः भक्त सदैव भगवान् की प्रेमाभक्ति में संलग्न रहता है। ऐसा व्यक्ति वास्तविक गुरु है। *पद्मपुराण* में कहा गया है—

षट्कर्मनिपुणो विप्रो मन्त्रतन्त्रविशारदः।
अवैष्णवो गुरुर्न स्याद् वैष्णवः श्वपचो गुरुः॥

"भले ही ब्राह्मण शास्त्रों में निपुण हो और ब्राह्मण के षड्कर्मों को जानता हो, किन्तु वह तब तक गुरु नहीं हो सकता जब तक भगवान् का भक्त न हो। किन्तु यदि कोई चाण्डाल के परिवार में उत्पन्न होकर भगवान् का शुद्ध भक्त है, तो वह गुरु बन सकता है।" निष्कर्ष यह निकला कि जब तक कोई भगवान् का शुद्ध भक्त नहीं होता, वह गुरु नहीं बन सकता। जो भक्ति के उपर्युक्त विवरण के अनुसार गुरु होता है उसको यह समझना चाहिए कि वह साक्षात् भगवान् के रूप में उपस्थित है। यहाँ पर प्रयुक्त शब्दों (*गुरुर्हरि:*) के अनुसार प्रामाणिक गुरु से परामर्श करने का अर्थ है साक्षात् भगवान् से परामर्श करना। अत: मनुष्य को ऐसे प्रामाणिक गुरु की शरण लेनी चाहिए। जीवन की सफलता का अर्थ है ऐसा गुरु बनाना जो कृष्ण को एकमात्र परम प्रिय व्यक्ति मानता है। मनुष्य को भगवान् के ऐसे विश्वस्त भक्त की पूजा करनी चाहिए।

नारद उवाच

प्रश्न एवं हि सञ्छिन्नो भवत: पुरुषर्षभ ।
अत्र मे वदतो गुह्यं निशामय सुनिश्चितम् ॥ ५२ ॥

शब्दार्थ

नारद: उवाच—नारद ने कहा; प्रश्न:—प्रश्न; एवम्—इस प्रकार; हि—निश्चय ही; सञ्छिन्न:—उत्तरित; भवत:—तुम्हारा; पुरुष-ऋषभ—हे श्रेष्ठ पुरुष; अत्र—यहाँ; मे वदत:—मैं जिस तरह कह रहा हूँ; गुह्यम्—रहस्यपूर्ण, गुप्त; निशामय—सुनो; सु-निश्चितम्—भली-भाँति निश्चित किया।

महर्षि नारद ऋषि ने आगे कहा : हे महापुरुष, तुमने जो कुछ मुझसे पूछा है मैंने उसका समुचित उत्तर दे दिया है। अब एक अन्य आख्यान सुनो जो साधु पुरुषों द्वारा स्वीकृत है और अत्यन्त गुह्य है।

तात्पर्य : श्रीनारद मुनि स्वयं ही राजा बर्हिष्मान् के गुरु का कार्य कर रहे हैं। नारद की यह आन्तरिक इच्छा थी कि राजा उनके उपदेशों से तुरन्त सभी कर्मकाण्ड बन्द कर दे और भक्ति करने लगे। किन्तु सब कुछ समझते हुए भी राजा अपने कार्यों को बन्द करने के लिए तैयार न था। जैसाकि अगले श्लोकों से स्पष्ट हो जाएगा, राजा अपने पुत्रों को बुलाने वाला था, जो तपस्या करने के लिए घर से दूर गये हुए थे। उनके लौटने पर वह उन्हें राज्य सौंपकर घर छोड़ कर बाहर जाना चाहता था। अनेक लोगों के साथ ऐसा ही होता है। वे प्रामाणिक गुरु बनाकर उसकी बातें सुनते हैं, किन्तु जब गुरु कहता है कि घर छोड़कर भक्ति करो तो वे हिचकिचाते हैं। गुरु का यह कर्तव्य है कि शिष्य को तब

तक उपदेश देता रहे जब तक उसकी समझ में न आ जाये कि यह भौतिकतावादी जीवन–शैली, अर्थात् कर्मकाण्ड तनिक भी लाभप्रद नहीं है। वास्तव में मनुष्य को प्रारम्भ से ही भक्ति करनी चाहिए जैसाकि प्रह्लाद महाराज ने उपदेश दिया है—*कौमार आचरेत् प्राज्ञो धर्मान् भागवतानिह* (भागवत ७.६.१)। वेदों के सभी आदेशों के अनुसार हमें समझ लेना चाहिए जब तक हम कृष्णचेतना तथा भक्ति ग्रहण नहीं करते हम इस संसार में भौतिक कर्मों में अपना समय व्यर्थ गँवाते रहते हैं। इसलिए नारद मुनि ने एक अन्य वृत्तान्त सुनाने का निश्चय किया जिससे राजा गृहस्थी को त्याग सके।

क्षुद्रं चरं सुमनसां शरणे मिथित्वा
रक्तं षडङ्घ्रिगणसामसु लुब्धकर्णम् ।
अग्रे वृकानसुतृपोऽविगणय्य यान्तं
पृष्ठे मृगं मृगय लुब्धकबाणभिन्नम् ॥ ५३ ॥

शब्दार्थ

क्षुद्रम्—घास; चरम्—चरते हुए; सुमनसाम्—सुन्दर फूलों के उद्यान की; शरणे—रक्षा में; मिथित्वा—मैथुन करते हुए; रक्तम्—अनुरक्त; षट्-अङ्घ्रि—षट्पद या भौंरों का; गण—समूह; सामसु—गाने के प्रति; लुब्ध-कर्णम्—जिसके कान आकृष्ट हैं; अग्रे—सामने; वृकान्—भेड़िये; असु-तृपः—दूसरों को खाकर जीने वाले; अविगणय्य—अपेक्षा करके; यान्तम्—जाते हुए; पृष्ठे—पीछे; मृगम्—हिरन को; मृगय—ढूँढो; लुब्धक—शिकारी के; बाण—बाणों से; भिन्नम्—बेधे जाने वाला।

हे राजा, उस हिरन की खोज करो जो एक सुन्दर उद्यान में अपनी हिरनी के साथ घास चरने में मस्त है। वह हिरन अपने कार्य (चरने) में अत्यधिक अनुरक्त है और उस उद्यान के भौरों के मधुर गुंजार का आनन्द ले रहा है। उसकी स्थिति को समझने का प्रयास करो। उसे इसका पता ही नहीं कि उसके सामने भेड़िया है, जो अन्यों के मांस को खाकर अपना पेट पालन करने का आदी है। हिरन के पीछे शिकारी है, जो उसे तीक्ष्ण बाणों से बेधने के लिए तैयार है। इस प्रकार हिरन की मृत्यु निश्चित है।

तात्पर्य : यहाँ एक रूपक (अन्योक्ति) है, जिसमें राजा से सदा भयानक स्थिति में रह रहे हिरन को ढूँढ निकालने के लिए कहा जाता है। यद्यपि वह चारों ओर से संकट से घिरा है, किन्तु वह सुन्दर उद्यान में घास चरता रहता है और चारों ओर के संकट से बेसुध है। सभी जीव, विशेष रूप से मनुष्य अपने को परिवार के बीच अत्यन्त सुखी मानते हैं, मानो किसी उद्यान में भौंरों की मधुर गुंजार सुनते हुए प्रत्येक व्यक्ति अपने परिवार की शोभा अपनी पत्नी में केन्द्रित माने। भौंरों की गुंजार की तुलना बच्चों की बोली से की जा सकती है। मनुष्य हिरन के ही समान यह जाने बिना कि उसके समक्ष

काल-रूपी भेड़िया खड़ा है, अपने परिवार का भोग करता रहता है। जीव के सकाम कर्म उसके लिए एक अन्य घातक स्थिति उत्पन्न करते रहते हैं और उसे विभिन्न देह धारण करने के लिए बाध्य करते हैं। हिरन के लिए मरुस्थल में मृगतृष्णा के पीछे दौड़ना कोई असामान्य घटना नहीं है। हिरन भी अत्यन्त कामी होता है। निष्कर्ष यह है कि जो हिरन की तरह रहता है, वह कालान्तर में मृत्यु का शिकार होता है। इसीलिए वैदिक साहित्य की सलाह है कि हम अपनी स्वाभाविक स्थिति को समझें और मृत्यु आने के पहले ही भक्ति करें। *भागवत* के अनुसार (११.९.२९)—

लब्ध्वा सुदुर्लभमिदं बहुसम्भवान्ते

मानुष्यमर्थदमनित्यमपीह धीरः।

तूर्णं यतेत न पतेदनुमृत्यु यावन्

निःश्रेयसाय विषयः खलु सर्वतः स्यात्॥

अनेक जन्मों के पश्चात् हमें यह मनुष्य देह मिलती है, अतः मृत्यु आने के पूर्व हमें भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति करनी चाहिए। मानव जीवन की यही पूर्णता है।

सुमनःसमधर्मणां स्त्रीणां शरण आश्रमे पुष्पमधुगन्धवत्क्षुद्रतमं काम्यकर्मविपाकजं कामसुखलवं जैह्व्यौपस्थ्यादि विचिन्वन्तं मिथुनीभूय तदभिनिवेशितमनसं षडङ्घ्रिगणसामगीतवदतिमनोहरवनितादिजनालापेष्वतितरामतिप्रलोभितकर्णमग्रे वृकयूथवदात्मन ।आयुर्हरतोऽहोरात्रान्तान्काललवविशेषानविगणय्य गृहेषु विहरन्तं पृष्ठत एव परोक्षमनुप्रवृत्तो लुब्धकः कृतान्तोऽन्तः शरेण यमिह पराविध्यति तमिममात्मानमहो राजन्भिन्नहृदयं द्रष्टुमर्हसीति ॥५४॥

शब्दार्थ

सुमनः—फूल; सम-धर्मणाम्—समानधर्मा, हूबहू; स्त्रीणाम्—स्त्रियों की; शरणे—शरण में; आश्रमे—गृहस्थ जीवन; पुष्प—फूलों में; मधु—शहद की; गन्ध—सुगन्ध; वत्—सदृश; क्षुद्र-तमम्—अत्यन्त क्षुद्र, नगण्य; काम्य—इच्छित; कर्म—कर्मों का; विपाक-जम्—के फलस्वरूप प्राप्त; काम-सुख—इन्द्रियतृप्ति का; लवम्—एक खंड; जैह्व्य—जिह्वा सुख; औपस्थ्य—संभोग सुख; आदि—इत्यादि; विचिन्वन्तम्—सदैव चिन्तन करते हुए; मिथुनी-भूय—संभोगरत; तत्—अपनी पत्नी के साथ; अभिनिवेशित—सदैव मग्न; मनसम्—जिसका मन; षट्-अङ्घ्रि—भौंरों का; गण—समूह; साम—मधुर; गीत—गुंजार; वत्—सदृश; अति—अत्यन्त; मनोहर—आकर्षक; वनिता-आदि—पत्नी इत्यादि; जन—लोगों का; आलापेषु—बातों में; अतितराम्—अत्यधिक; अति—अधिक; प्रलोभित—आसक्त; कर्णम्—जिसके कान; अग्रे—आगे; वृक-यूथ—भेड़ियों का झुंड; वत्—सदृश; आत्मनः—अपने आप का; आयुः—उम्र; हरतः—हरण करते हुए; अहः-रात्रान्—दिन तथा रातें; तान्—वे सब; काल-लव-विशेषान्—समय के क्षण; अविगणय्य—बिना विचारे; गृहेषु—गृहस्थ जीवन में; विहरन्तम्—भोगते या विहार करते; पृष्ठतः—पीछे से; एव—निश्चय ही; परोक्षम्—अदृश्य रूप से; अनुप्रवृत्तः—पीछा करते हुए; लुब्धकः—शिकारी; कृत-अन्तः—यमराज; अन्तः—हृदय में; शरेण—बाण से; यम्—जिसको; इह—इस संसार में; पराविध्यति—बेधता है; तम्—उस; इमम्—यह; आत्मानम्—अपने आप, स्वतः; अहो राजन्—हे राजा; भिन्न-हृदयम्—बिंधे हुए हृदय वाला; द्रष्टुम्—देखने के लिए; अर्हसि—तुम्हें चाहिए; इति—इस प्रकार।

हे राजन्, स्त्री उस पुष्प के समान है, जो प्रारम्भ में अत्यन्त आकर्षक एवं अन्त में अत्यन्

घृणा योग्य हो जाता है। जीव कामेच्छाओं के कारण स्त्री के साथ फँसता है और वह उसी प्रकार संभोग-सुख प्राप्त करता है, जिस प्रकार फूलों की सुगन्ध का भोग किया जाता है। इस प्रकार वह जिह्वा से लेकर शिश्न तक इन्द्रियतृप्ति का जीवन बिताता है और इस प्रकार जीव अपने को गृहस्थ जीवन में अत्यन्त सुखी मानता है। अपनी स्त्री के साथ रहते हुए वह सदैव ऐसे विचारों में मग्न रहता है। वह अपनी पत्नी तथा बच्चों की बातें सुनने में आनन्द का अनुभव करता है। ये उन भौंरों की मधुर गुंजार के तुल्य होती हैं, जो प्रत्येक फूल से मधु एकत्र करते रहते हैं। वह भूल जाता है कि उसके समक्ष काल खड़ा है, जो दिन-रात के बीतने के साथ ही उसकी आयु का हरण करता जा रहा है। उसे न तो धीरे-धीरे हो रही अपनी आयु-क्षय दिखती है और न उसे यमराज की ही परवाह रहती है, जो पीछे से उसे मारने का प्रयत्न करते रहते हैं। तुम इसे समझने का प्रयास करो। तुम अत्यन्त शोचनीय स्थिति में हो और चारों ओर से संकट से घिरे हो।

तात्पर्य : भौतिक जीवन का अर्थ है भगवान् कृष्ण के दास के रूप में अपनी स्वाभाविक स्थिति को भूलना और यह विस्मरण गृहस्थाश्रम में विशेष रूप से बढ़ जाता है। गृहस्थ आश्रम में युवक किसी युवा सुन्दरी स्त्री को पत्नी रूप में स्वीकार करता है, किन्तु कालान्तर में, अनेक बच्चों को जन्म देने तथा वृद्ध होते जाने पर पत्नी परिवार के भरणपोषण के लिए अनेक वस्तुओं की माँग करती है। उस समय पत्नी उसी व्यक्ति को, जिसने उसे युवावस्था में स्वीकार किया था, घृणित लगने लगती है। कोई भी मनुष्य दो कारणों से गृहस्थ आश्रम को स्वीकार करता है—पत्नी पति की रुचि के अनुकूल स्वादिष्ट व्यंजन तैयार करती है और रात्रि में वह उसे काम-सुख प्रदान करती है। गृहस्थ आश्रम में आसक्त व्यक्ति सदैव इन्हीं दो बातों का चिन्तन करता रहता है—स्वादिष्ट भोजन तथा काम-सुख। पत्नी की बातें, परिवार का विनोद करने वाली होती हैं तथा बच्चों की बातें जीव को आकृष्ट करती हैं। इस प्रकार वह यह भूल जाता है कि उसे एक दिन मरना है और अनुकूल शरीर में प्रवेश पाने के लिए अगले जीवन की तैयारी करनी है।

उद्यान में स्थित हिरन अन्योक्ति के रूप में प्रयुक्त है, जिससे नारद मुनि राजा को बताना चाहते हैं कि राजा स्वयं इसी प्रकार की परिस्थितियों से घिरा है। वास्तव में प्रत्येक प्राणी की ऐसी ही पारिवारिक स्थिति है, जो उसे पथभ्रष्ट कर देती है। इस प्रकार जीव इसे भूल जाता है कि उसे भगवान्

के धाम वापस जाना है। वह केवल पारिवारिक जीवन में उलझा रहता है। इसीलिए प्रह्लाद महाराज ने इंगित किया है—*हित्वात्मपातं गृहम् अन्धकूपं वनं गतो यद्धरिमाश्रयेत।* गृहस्थ-जीवन अन्धकूप के सदृश है, जिसमें गिरकर मनुष्य असहाय होकर मर जाता है। प्रह्लाद महाराज बताते हैं कि इन्द्रियों के ठीक रहते तथा बलवान रहते हुए मनुष्य को गृहस्थाश्रम त्याग देना चाहिए और वृन्दावन जाकर भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण कर लेनी चाहिए। वैदिक सभ्यता के अनुसार मनुष्य को एक आयु विशेष में (पचास वर्ष पर) वानप्रस्थ ग्रहण करके अन्त में संन्यासी रूप में अकेले रहना चाहिए। यही वैदिक सभ्यता की संस्तुत विधि है, जिसे वर्णाश्रम धर्म कहते हैं। जब गृहस्थ जीवन को भोग कर कोई संन्यास ग्रहण करता है, तो भगवान् विष्णु को प्रसन्न कर लेता हैं।

मनुष्य को अपने परिवार या सांसारिक जीवन में अपनी स्थिति को समझना चाहिए। इसीको बुद्धिमत्ता कहते हैं। उसे अपनी जीभ के स्वाद को पूरा करने तथा पत्नी के साथ सम्भोग करने में ही नहीं फँसे रहना चाहिए। ऐसा करने पर मनुष्य अपने जीवन को व्यर्थ गँवाता है। वैदिक सभ्यता के अनुसार मनुष्य को एक अवस्था विशेष में परिवार को त्यागना ही पड़ता है, यदि आवश्यक हुआ तो बल का प्रयोग भी करना पड़ता। दुर्भाग्यवश वैदिक जीवन के तथाकथित अनुयायी जीवन के अन्तकाल तक भी अपना परिवार नहीं त्यागते, जब तक मृत्यु उसे विवश नहीं कर देती। सामाजिक प्रणाली में आमूल परिवर्तन की आवश्यकता है और समाज को चार वर्णों तथा चार आश्रमों वाले वैदिक सिद्धान्तों को फिर से अपनाना चाहिए।

स त्वं विचक्ष्य मृगचेष्टितमात्मनोऽन्त-
श्चित्तं नियच्छ हृदि कर्णधुनीं च चित्ते ।
जह्यङ्गनाश्रममसत्तमयूथगाथं
प्रीणीहि हंसशरणं विरम क्रमेण ॥ ५५ ॥

शब्दार्थ

सः—वही पुरुष; त्वम्—तुम; विचक्ष्य—विचार करके; मृग-चेष्टितम्—हिरन के कार्य; आत्मनः—स्वयं के; अन्तः—भीतरी; चित्तम्—चेतना; नियच्छ—स्थिर करो; हृदि—हृदय में; कर्ण-धुनीम्—कर्णेन्द्रिय; च—तथा; चित्ते—चेतना को; जहि—छोड़ दो; अङ्गना-आश्रमम्—गृहस्थ जीवन; असत्-तम—अत्यन्त घृणित; यूथ-गाथम्—नर तथा नारी की गाथाओं से पूर्ण; प्रीणीहि—स्वीकार करो; हंस-शरणम्—मुक्त जीवों की शरण; विरम—विरक्त बनो; क्रमेण—क्रमशः।

हे राजन्, तुम हिरन की अन्योक्ति की स्थिति को समझने का प्रयास करो। तुम अपने प्रति पूर्ण सचेत रहो और कर्म के द्वारा स्वर्गलोक जाने के श्रवण-सुख को त्याग दो। गृहस्थ जीवन

त्याग दो, क्योंकि वह विषयभोगों से तथा ऐसी वस्तुओं की कथाओं से पूर्ण है। तुम मुक्त पुरुषों की कृपा से भगवान् की शरण ग्रहण करो। इस प्रकार से इस संसार के प्रति अपनी आसक्ति का त्याग करो।

तात्पर्य : श्रील नरोत्तमदास ठाकुर अपने एक गीत में लिखते हैं—

कर्मकाण्ड, ज्ञानकाण्ड, केवल विषेर भाण्ड

अमृत बलिया येबा खाय

नाना योनि सदा फिरे, कदर्य भक्षण करे,

तार जन्म अधःपाते याय

''कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड विष के प्यालों के तुल्य हैं। जो भी इनको अमृत समझ कर पीता है उसे जन्म-जन्मांतर विभिन्न प्रकार की देहों में कठिन संघर्ष करना पड़ता है। ऐसा व्यक्ति सभी प्रकार के व्यर्थ पदार्थ खाता है और तथाकथित इन्द्रियसुख के कार्यों के कारण तिरस्कृत हो जाता है।''

सामान्यतः लोग सांसारिक कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड के कर्मफलों के प्रति आकृष्ट होते हैं। वे स्वर्गलोक जाने की अभिलाषा, ब्रह्म में तादात्म्य अथवा जीभ तथा जननेन्द्रियों के आनन्द से मुग्ध होकर पारिवारिक जीवन में ही बने रहना चाहते हैं। नारद मुनि राजा बर्हिष्मान् को स्पष्ट उपदेश देते हैं कि वह सम्पूर्ण जीवन गृहस्थाश्रम में न व्यतीत करे। गृहस्थ आश्रम में रहने का अर्थ है अपनी पत्नी के वश में होना। मनुष्य को यह सब त्याग कर परमहंस आश्रम में जाना चाहिए, अर्थात् अपने आप को गुरु के अधीन कर देना चाहिए। परमहंस आश्रम भगवान् का आश्रम है, जहां गुरु ने शरण ले रखी है। *श्रीमद्भागवत* (११.३.२१) में प्रामाणिक गुरु के लक्षण इस प्रकार बताये गये हैं—

तस्माद् गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम्।

शाब्दे परे च निष्णातं ब्रह्मण्युपशमाश्रयम्॥

''जो व्यक्ति वास्तविक सुख प्राप्त करने का इच्छुक हो, उसे प्रामाणिक गुरु की खोज करनी चाहिए और दीक्षा के द्वारा उसकी शरण ग्रहण करनी चाहिए। गुरु की योग्यता यह है कि उसे शास्त्रार्थ और विचार-विमर्श द्वारा अर्जित शास्त्रों के निर्णय का ज्ञान हो और वह इन निष्कर्षों को आश्वस्त कर सके। ऐसे महापुरुष, जिन्होंने सारी सांसारिकता को त्याग कर भगवान् की शरण ग्रहण कर ली है,

उनको प्रामाणिक गुरु मानना चाहिए।''

परमहंस वह है, जिसने परब्रह्म अर्थात् पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की शरण ग्रहण कर ली हो। यदि कोई ऐसे परमहंस गुरु की शरण ग्रहण करता है, तो धीरे-धीरे वह अभ्यास तथा उपदेश से भौतिक जीवन से विरक्त होने लगता है और अन्त में भगवान् के धाम को जाता है। *अङ्गनाश्रममसत्तमयूथगाथं* का विशिष्ट उल्लेख अत्यन्त रोचक है। सारा संसार स्त्री के द्वारा नियंत्रित होने के कारण माया के चंगुल में है। मनुष्य न केवल अपनी स्त्री के वश में हैं, अपितु वह तरह-तरह के संभोग साहित्य से नियंत्रित है। भौतिक जगत में फँसने का यही कारण है। मनुष्य अपने ही प्रयास से इस घृणित संगति को नहीं छोड़ पाता, किन्तु यदि वह परमहंस रूप प्रामाणिक गुरु की शरण ग्रहण कर लेता है, तो वह क्रमशः आध्यात्मिक जीवन के पद को प्राप्त कर लेगा।

वेदों के मोहक शब्द, जो मनुष्य को स्वर्गलोक जाने या परब्रह्म में तदाकार होने के लिए प्रेरित करते हैं, अल्पज्ञों के लिए हैं, जिन्हें *भगवद्गीता* में *माययापहृतज्ञाना:* (जिनका ज्ञान माया द्वारा हर लिया गया है) कहा गया है। वास्तविक ज्ञान का अर्थ है भौतिक जीवन की कष्टकर अवस्था का बोध। मनुष्य को प्रामाणिक मुक्त पुरुष अर्थात् गुरु की शरण ग्रहण करनी चाहिए और क्रमशः आध्यात्मिक पद तक उठना चाहिए जिससे भौतिक जगत से विरक्त हुआ जा सके। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार *हंस शरणम्* का अर्थ है, वह कुटी जिसमें साधु पुरुष रहते हैं। सामान्यतः साधु जंगल में दूरस्थ स्थान पर या साधारण कुटिया में रहता है। लेकिन हमें ध्यान रखना होगा कि समय बदल चुका है। जंगल जाकर कुटिया में रहना भले ही साधु के हित में हो, किन्तु यदि कोई उपदेशक हो जाता है, विशेषकर पाश्चात्य देशों में, तो उसे अनेक तरह के लोगों को आमंत्रित करना पड़ता है, जो सुखद मकानों में रहने के अभ्यस्त होते हैं। अतः इस युग में साधु को लोगों के स्वागतार्थ समुचित प्रबन्ध करना और उन्हें कृष्णचेतना सन्देश के प्रति आकर्षित करना होता है। सम्भवतः श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने पहली बार साधु पुरुषों के रहने के लिए बड़े-बड़े प्रासादों एवं मोटरकारों का प्रचलन किया जिससे बड़े शहरों की जनता आकृष्ट हो सके। मुख्य तथ्य तो यह है कि लोगों को साधुओं की संगति करनी पड़ती है। इस युग में लोग जंगल में जाकर साधु की खोज नहीं करेंगे। उल्टे, साधुओं को बड़े शहरों में आकर ऐसे लोगों से भेंट करने के लिए व्यवस्था करनी होगी जो आधुनिक

भौतिक सुविधाओं के अभ्यस्त हैं। धीरे-धीरे ये लोग समझ सकेंगे कि ऐसे प्रासाद या सुखद मकान तनिक भी आवश्यक नहीं हैं। वास्तविक आवश्यकता है कि जैसे भी हो सके कर्मबन्धन से मुक्त हुआ जाये। श्रील रूप गोस्वामी के आदेशानुसार—

अनासक्तस्य विषयान् यथार्हम् उपयुञ्जत: ।

निर्बन्ध:कृष्ण सम्बन्धे युक्तं वैराग्यमुच्यते ॥

''जब मनुष्य अनासक्त होता है और इसके साथ ही प्रत्येक वस्तु को कृष्ण के हेतु मानने लगता है, तो उसे वैराग्य से युक्त कहा जाता है'' (भक्ति-रसामृत-सिन्धु १.२.२५५)।

मनुष्य को भौतिक ऐश्वर्य में लिप्त नहीं हो जाना चाहिए, किन्तु कृष्णभावनामृत-आन्दोलन को आगे बढ़ाने के लिए भौतिक ऐश्वर्य को अपनाया जा सकता है। दूसरे शब्दों में, भौतिक ऐश्वर्य को *युक्तवैराग्य* के रूप में, अर्थात् विरक्ति के लिए स्वीकार किया जा सकता है।

राजोवाच
श्रुतमन्वीक्षितं ब्रह्मन्भगवान्यदभाषत ।
नैतज्जानन्त्युपाध्याया: किं न ब्रूयुर्विदुर्यदि ॥ ५६ ॥

शब्दार्थ

राजा उवाच—राजा ने कहा; श्रुतम्—सुना गया; अन्वीक्षितम्—विचार किया गया; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; भगवान्—अत्यन्त शक्तिमान; यत्—जो; अभाषत—तुमने कहा है; न—नहीं; एतत्—यह; जानन्ति—जानते हैं; उपाध्याया:—कर्मकाण्ड के शिक्षक; किम्—क्यों; न ब्रूयु:—उन्होंने शिक्षा नहीं दी; विदु:—वे जानते थे; यदि—अगर।

राजा ने कहा : हे ब्राह्मण, आपने जो कुछ कहा है उसे मैंने अत्यन्त मनोयोग से सुना है और सम्यक् विचार के पश्चात् मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि जिन आचार्यों (शिक्षकों) ने मुझे कर्मकाण्ड में प्रवृत्त किया, वे इस गुह्य ज्ञान को नहीं जानते थे। और यदि वे इससे अवगत थे तो फिर उन्होंने मुझे क्यों नहीं बताया?

तात्पर्य : वास्तव में समाज के तथाकथित शिक्षक या अग्रणी लोग जीवन के उद्देश्य को ठीक से नहीं जानते। ऐसे लोगों को *भगवद्गीता* में *माययापहृतज्ञाना:* कहा गया है। वे अत्यन्त विद्वान् प्रतीत होते हैं, किन्तु माया के प्रभाव से उनका ज्ञान हर लिया गया होता है। वास्तविक ज्ञान का अर्थ है कृष्ण की खोज। *वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्य:* सारा ज्ञान श्रीकृष्ण की खोज करने के निमित्त है, क्योंकि श्रीकृष्ण ही प्रत्येक वस्तु के मूल हैं। *जन्माद्यस्य यत:।* *भगवद्गीता* (१०.२) में कृष्ण कहते हैं—*अहमादिर्हि*

देवानां—मैं समस्त देवों का स्रोत हूँ। इस प्रकार श्रीकृष्ण समस्त देवताओं के जिनमें ब्रह्मा, शिव इत्यादि सम्मिलित हैं, मूल तथा आदि स्रोत हैं। वैदिक अनुष्ठान विभिन्न देवताओं को प्रसन्न करने के लिए हैं, किन्तु जब तक कोई प्रगतिमान (विद्वान) नहीं होता वह यह नहीं समझ पाता कि श्रीकृष्ण ही आदि पुरुष है। *गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि।* नारद के उपदेशों को सुन कर राजा को चेत हुआ। जीवन का वास्तविक उद्देश्य भगवान् की भक्ति प्राप्त करना है। अत: राजा ने तथाकथित पुरोहिती आदेशों को नकार देने का निश्चय किया, क्योंकि उनमें जीवन के उद्देश्य के विषय में कोई शिक्षा न दी जाकर अनुयायियों को केवल अनुष्ठानों में लगाये रखा जाता है। आज के समय में संसार भर में गिरजाघरों, मन्दिरों तथा मस्जिदों के प्रति लोग आकृष्ट नहीं होते, क्योंकि मूर्ख पुरोहित अपने अनुयायियों को ज्ञान प्रदान नहीं कर पाते। जीवन-उद्देश्य से अपरिचित रहने के कारण वे भक्तों को अंधकार में रखते हैं। फलत: जो सचमुच शिक्षित हैं, वे अनुष्ठानों के प्रति अरुचि रखने लगे हैं, किन्तु साथ ही उन्हें इससे कुछ ज्ञान नहीं प्राप्त हो पाता। अत: समस्त वर्गों के लोगों को जागरुक करने के लिए यह कृष्णभावनामृत-आन्दोलन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। महाराज बर्हिष्मान् के पदचिह्नों का अनुसरण करते हुए प्रत्येक व्यक्ति को चाहिए कि कृष्णभावनामृत-आन्दोलन का लाभ उठाए और अनेक धर्मों के वेश में चलने वाले रूढ़ीगत अनुष्ठानों का परित्याग करे। गोस्वामी लोग प्रारम्भ से ही उन पुरोहितों से भिन्न थे, जो केवल अनुष्ठानों में लगे रहते थे। दरअसल श्रील सनातन गोस्वामी ने ही वैष्णवों के मार्गदर्शन के लिए *हरि-भक्ति-विलास* का संग्रह किया। वैष्णव लोग पुरोहितों के निर्जीव कार्यों की परवाह न करके पूर्णत: कृष्णभक्ति करते हैं और इसी जीवन में पूर्ण बनते हैं। इसका वर्णन पिछले श्लोक में *परमहंस शरणम्* अर्थात् परमहंस की शरण लेने ओर इस जीवन को सफल बनाने के रूप में हुआ है।

संशयोऽत्र तु मे विप्र सञ्छिन्नस्तत्कृतो महान् ।
ऋषयोऽपि हि मुह्यन्ति यत्र नेन्द्रियवृत्तयः ॥५७॥

शब्दार्थ

संशयः—सन्देह; अत्र—यहाँ; तु—लेकिन; मे—मेरा; विप्र—हे ब्राह्मण; सञ्छिन्नः—काट दिया, दूर कर दिया; तत्-कृतः—उससे किया गया; महान्—महान; ऋषयः—ऋषिगण; अपि—भी; हि—निश्चय ही; मुह्यन्ति—मोहग्रस्त हो जाते हैं; यत्र—जहाँ; न—नहीं; इन्द्रिय—इन्द्रियों का; वृत्तयः—कार्यकलाप।

हे ब्राह्मण, आपके आदेशों तथा मुझे कर्मकाण्ड में प्रवृत्त करने वाले मेरे गुरुओं के उपदेशों में विरोधाभास जान पड़ता है। मैं अब भक्ति, ज्ञान तथा वैराग्य के अन्तर को समझ सकता हूँ।

मुझे पहले इनके विषय में कुछ संशय थे, किन्तु आपने कृपा करके इन संशयों को मिटा दिया है। अब मैं समझ सकता हूँ कि बड़े बड़े ऋषि भी जीवन के वास्तविक उद्देश्य के विषय में कैसे मोहग्रस्त होते हैं। निस्सन्देह, इन्द्रियतृप्ति का कोई सवाल ही नहीं उठता।

तात्पर्य : राजा बर्हिष्मान् स्वर्ग प्राप्ति के लिए तरह-तरह के यज्ञ सम्पन्न कर रहा था। लोग सामान्यत: ऐसे कृत्यों के प्रति आकृष्ट होते हैं और विरले ही भक्ति के प्रति कोई आकृष्ट होता हैं। जैसाकि चैतन्य महाप्रभु ने पुष्टि की है। परम भाग्यशाली व्यक्ति ही भक्ति में लगता है। यहाँ तक कि तथाकथित वेद-विद्वान् भी भक्ति के विषय में मोहग्रस्त होते हैं। वे इन्द्रियतृप्ति के लिए सामान्य रूप से अनुष्ठानों के प्रति आकृष्ट होते हैं। भक्ति में इन्द्रियतृप्ति कहाँ! वहाँ तो केवल भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति होती है। अत: इन्द्रियतृप्ति में संलग्न तथाकथित पुरोहित भक्ति को पसन्द नहीं करते। जबसे भगवान् चैतन्य महाप्रभु ने इस कृष्णभावनामृत-आन्दोलन को प्रारम्भ किया, तभी से ब्राह्मण अथवा पुरोहित इसके विरुद्ध रहे हैं। जब चैतन्य महाप्रभु ने इस आन्दोलन को प्रारम्भ किया, उन्होंने इस्लामी सरकार के न्यायाधीश काजी से शिकायतें कीं। फलत: चैतन्य महाप्रभु को तथाकथित वेदवादियों के इस प्रचार के विरुद्ध अवज्ञा-आन्दोलन चलाना पड़ा। ये लोग *कर्म-जड-स्मार्त* कहे गये हैं, जिसका अर्थ है अनुष्ठानों में संलग्न पुरोहितगण। यहाँ कहा गया है कि ऐसे लोग मोहग्रस्त हो जाता हैं (*ऋषयोऽपि हि मुह्यन्ति*)। ऐसे कर्म-जड़-स्मार्तों *से बचने के लिए मनुष्य को भगवान् के आदेशों का कड़ाई से पालन करना चाहिए।—*

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच:॥

''समस्त प्रकार के धर्म का परित्याग करो और मेरी शरण में आओ। मैं तुम्हें समस्त पापों से उबार लूँगा। डरो नहीं'' (*भगवद्गीता* १८.६६)।

कर्माण्यारभते येन पुमानिह विहाय तम् ।
अमुत्रान्येन देहेन जुष्टानि स यदश्नुते ॥५८॥

शब्दार्थ

कर्माणि—सकाम कर्म; आरभते—करना प्रारम्भ करता है; येन—जिससे; पुमान्—जीव; इह—इस जीवन में; विहाय—त्याग कर; तम्—उस; अमुत्र—अगले जीवन में; अन्येन—दूसरे; देहेन—शरीर के द्वारा; जुष्टानि—परिणाम; सः—वह; यत्—जो; अश्नुते—भोगता है।.

इस जीवन में जीव जो कुछ भी करता है, उसका फल वह अगले जीवन में भोगता है।

तात्पर्य : मनुष्य प्रायः यह नहीं जानता कि एक शरीर दूसरे से किस प्रकार सम्बद्ध रहता है। यह कैसे सम्भव है कि इस जीवन में किये गये कर्मों का फल वह अगले जीवन में प्राप्त होने वाले शरीर में भोगे? राजा नारद मुनि से इसी प्रश्न का उत्तर चाह रहा है। यह कैसे सम्भव है कि इस जीवन में जिसे मनुष्य शरीर प्राप्त है उसे अगले जीवन में मनुष्य शरीर प्राप्त नहीं होता? यहाँ तक कि बड़े-बड़े वैज्ञानिक तथा दार्शनिक भी एक शरीर से दूसरे शरीर में कर्मों के अन्तरण को नहीं समझ पाते। जैसा हम अनुभव करते हैं, प्रत्येक आत्मा के एक अलग शरीर होता है और प्रत्येक व्यक्ति के कर्म या प्रत्येक शरीर के कर्मों को दूसरे शरीर या व्यक्ति द्वारा नहीं भोगना होता। प्रश्न यह है कि एक शरीर के कर्म अगले जन्म में किस प्रकार भोगे जाते हैं?

इति वेदविदां वादः श्रूयते तत्र तत्र ह ।
कर्म यत्क्रियते प्रोक्तं परोक्षं न प्रकाशते ॥ ५९ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; वेद-विदाम्—वेदों के ज्ञाता; वादः—कथन; श्रूयते—सुना जाता है; तत्र तत्र—जगह जगह, जहाँ तहाँ; ह—निश्चय ही; कर्म—कर्म; यत्—जो; क्रियते—किया जाता है; प्रोक्तम्—जैसा कहा जा चुका है; परोक्षम्—अज्ञात; न प्रकाशते—प्रत्यक्ष प्रकट नहीं हो पाता।.

वेदवादियों का कथन है कि मनुष्य अपने पूर्व कर्मों के फल का भोग करता है। किन्तु व्यावहारिक रूप में यह देखा जाता है कि पिछले जन्म में जिस शरीर ने कर्म किया था वह तो नष्ट हो चुका होता है। अतः उस कर्म का भोग एक भिन्न शरीर द्वारा किस प्रकार सम्भव है?

तात्पर्य : नास्तिक लोग पूर्वकर्मों के फल का साक्ष्य चाहते हैं, अतः वे प्रश्न करते हैं, "कहाँ इसका प्रमाण है कि मैं विगत कर्म के फलों को भोग रहा हूँ?" उन्हें इसका ज्ञान नहीं है कि किस तरह सूक्ष्म शरीर वर्तमान शरीर के कर्मफलों को अगले स्थूल शरीर तक पहुँचाता है। भले ही वर्तमान स्थूल शरीर नष्ट हो जाये, किन्तु सूक्ष्म शरीर नष्ट नहीं होता; यह आत्मा को दूसरे शरीर तक ले जाता है। वस्तुतः स्थूल शरीर सूक्ष्म शरीर पर निर्भर रहता है, अतः अगला स्थूल शरीर सूक्ष्म शरीर के अनुसार सुख तथा दुख उठाता है। आत्मा तब तक सूक्ष्म शरीर द्वारा लेजाया जाता रहता है जब तक वह स्थूल

भौतिक बन्धन से मुक्त नहीं हो जाता।

नारद उवाच

येनैवारभते कर्म तेनैवामुत्र तत्पुमान् ।
भुङ्क्ते ह्यव्यवधानेन लिङ्गेन मनसा स्वयम् ॥ ६० ॥

शब्दार्थ

नारदः उवाच—नारद ने कहा; येन—जिसके द्वारा; एव—निश्चय ही; आरभते—प्रारम्भ करता है; कर्म—सकाम कर्म; तेन—उसी शरीर से; एव—निश्चय ही; अमुत्र—अगले जीवन में; तत्—वह; पुमान्—जीव; भुङ्क्ते —भोग करता है; हि—क्योंकि; अव्यवधानेन—किसी परिवर्तन के बिना; लिङ्गेन—सूक्ष्म शरीर से; मनसा—मन से; स्वयम्—स्वयं, खुद।

नारद मुनि ने आगे कहा : इस जीवन में जीव स्थूल शरीर में कर्म करता है। यह शरीर मन, बुद्धि तथा अहंकार से निर्मित सूक्ष्म शरीर द्वारा कार्य करने के लिए बाध्य किया जाता है। इस स्थूल शरीर के विनष्ट होने पर भी सूक्ष्म शरीर फल भोगने या कष्ट उठाने के लिए बना रहता है। अतः इससे कोई परिवर्तन नहीं होता।

तात्पर्य : जीव के दो प्रकार के शरीर होते हैं—सूक्ष्म तथा स्थूल। वास्तव में वह सूक्ष्म शरीर के द्वारा भोग करता है, जो मन, बुद्धि तथा अहंकार से बना है। स्थूल शरीर कारणस्वरूप बाह्य आवरण है। जब यह स्थूल शरीर नहीं रहता या मर जाता है, तो स्थूल शरीर का मूल—मन, बुद्धि तथा अहंकार—बना रहता है और दूसरा स्थूल शरीर ग्रहण कर लेता है। यद्यपि स्थूल शरीर ऊपर से बदलते हैं, किन्तु स्थूल शरीर का असली मूल-मन, बुद्धि तथा अहंकार का सूक्ष्म शरीर सदैव बना रहता है। सूक्ष्म शरीर के कार्य, चाहे वे पुण्य हों या पाप, अन्य परिस्थिति उत्पन्न करते हैं जिसमें जीव अगले स्थूल शरीर में सुख या दुख उठाता है। इस प्रकार सूक्ष्म शरीर बना रहता है, जबकि स्थूल शरीर एक के बाद एक-एक करके बदलता रहता है।

चूँकि आधुनिक वैज्ञानिक तथा दार्शनिक अत्यधिक भौतिकतावादी हैं और मायावश उनका ज्ञान हर लिया गया है, अतः वे यह नहीं बता पाते कि स्थूल शरीर किस तरह बदलता है। भौतिकतावादी चिन्तक डार्विन ने स्थूल शरीर में होने वाले परिवर्तनों का अध्ययन करने का प्रयत्न किया है, किन्तु सूक्ष्म शरीर या आत्मा का ज्ञान न होने से वह यह स्पष्ट नहीं कर सका कि विकास क्रिया किस प्रकार अग्रसर होती है। मनुष्य का स्थूल शरीर बदलता रहता है, किन्तु वह सूक्ष्म शरीर से कार्य करता रहता है। लोग सूक्ष्म शरीर के कार्यों को नहीं समझ पाते, अतः वे मोहग्रस्त रहते हैं कि एक स्थूल शरीर के

कार्य दूसरे स्थूल शरीर को किस प्रकार प्रभावित करते हैं। सूक्ष्म शरीर के कार्य भी परमात्मा द्वारा नियोजित हैं जैसाकि *भगवद्गीता* (१५.१५) में में बताया गया है—

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।

"मैं सबों के हृदय में स्थित हूँ और मुझी से स्मृति, ज्ञान तथा विस्मृति उत्पन्न होते हैं।"

चूँकि परमात्मा रूप में परमेश्वर सदैव प्रत्येक जीवात्मा का मार्गदर्शन करता है, अतः जीवात्मा को पता रहता है कि पूर्वकर्मों के अनुसार किस प्रकार कार्य किया जाये। दूसरे शब्दों में, परमात्मा उसे स्मरण दिलाता है कि इस प्रकार से कैसे कार्य किया जाये। अतः यद्यपि ऊपर से स्थूल शरीर में परिवर्तन जान पड़ता है, किन्तु जीवात्मा के जीवनों के बीच सातत्य रहता है।

शयानमिममुत्सृज्य श्वसन्तं पुरुषो यथा ।
कर्मात्मन्याहितं भुङ्क्ते तादृशेनेतरेण वा ॥ ६१ ॥

शब्दार्थ

शयानम्—बिस्तर में लेटे हुए; इमम्—यह शरीर; उत्सृज्य—त्याग कर; श्वसन्तम्—श्वास लेता हुआ; पुरुषः—जीव; यथा—जिस प्रकार; कर्म—कार्य; आत्मनि—मन में; आहितम्—सम्पन्न हुआ; भुङ्क्ते—भोगता है; तादृशेन—वैसे ही शरीर से; इतरेण—भिन्न शरीर से; वा—अथवा।

स्वप्न देखते समय जीव अपने वास्तविक शरीर को त्याग देता है और अपने मन तथा बुद्धि के कार्यों से वह दूसरे शरीर में, यथा देवता या कुत्ते के शरीर में, प्रवेश करता है। इस स्थूल शरीर को त्याग कर जीव इस लोक में अथवा अन्य लोक में किसी पशु या देवता के शरीर में प्रवेश करता है। इस प्रकार वह अपने पिछले जीवन के कर्मफलों को भोगता है।

तात्पर्य : यद्यपि मन, बुद्धि तथा अहंकार सुख तथा दुख के मूल कारण हैं, तो भी भोगने के लिए निमित्त (कारण) स्वरूप स्थूल शरीर की आवश्यकता पड़ती है। स्थूल शरीर भले बदलता रहे, किन्तु सूक्ष्म शरीर सक्रिय बना रहता है। जब तक जीव को अन्य स्थूल शरीर नहीं प्राप्त हो जाता, वह सूक्ष्म शरीर या भूतप्रेत के शरीर में बना रहता है। स्थूल शरीर के बिना ही जब सूक्ष्म शरीर कार्य करता है तब जीव भूत-प्रेत बन जाता है। जैसाकि इस श्लोक में कहा गया है—*शयानमिममुत्सृज्य श्वसन्तम्।* स्थूल शरीर बिस्तर पर लेट कर आराम कर सकता है और स्थूल शरीर रूपी यंत्र के कार्य करते रहने पर भी जीव स्थूल शरीर को छोड़कर स्वप्न में चला जाता है और फिर उसी में लौट आता है। जब वह शरीर में लौट आता हो तो स्वप्न को भूल जाता है। इसी प्रकार जब जीव अन्य स्थूल शरीर धारण करता है,

तो वह अपने वर्तमान स्थूल शरीर को भूल जाता है। निष्कर्ष यह है कि मन, बुद्धि तथा अहंकार से निश्चित सूक्ष्म शरीर आकांक्षाओं का वातावरण उत्पन्न कर देता है, जिसे जीव सूक्ष्म शरीर में ही भोगता है। वास्तव में जीव तो सूक्ष्म शरीर में ही रहता है, भले ही स्थूल शरीर बदलता रहे और जीव विभिन्न लोकों में शरीरों में निवास करे। सूक्ष्म शरीर में जीव द्वारा सम्पन्न सारे कार्य मोहपूर्ण कहलाते हैं, क्योंकि वे स्थायी नहीं होते। मोक्ष का अर्थ है सूक्ष्म देह के चंगुल से बाहर निकलना, जबकि स्थूल शरीर से मोक्ष का अर्थ है एक स्थूल शरीर से दूसरे में आत्मा का देहान्तरण। जब मन को कृष्णचेतना की शिक्षा मिलती है, तो मनुष्य या तो स्वर्गलोक या वैकुण्ठलोकों को जाता है, अत: मनुष्य को शिष्य-परम्परा द्वारा भगवान् से प्राप्त वैदिक आदेशों से प्राप्त ज्ञान के अनुशीलन से अपनी चेतना बदलनी होती है। यदि हम इस जीवन में सूक्ष्म शरीर को कृष्ण विषयक चिन्तन का प्रशिक्षण देते हैं, तो इस स्थूल शरीर को छोड़ने पर हम कृष्णलोक को जायेंगे। इसकी पुष्टि स्वयं भगवान् ने की है (*भगवद्गीता* ४.९)—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वत:।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥

"हे अर्जुन! जो व्यक्ति मेरे प्राकट्य तथा कर्मों की दिव्य प्रकृति से अवगत है, वह इस शरीर को त्यागने के पश्चात् इस संसार में जन्म नहीं लेता बल्कि मेरे शाश्वत धाम को प्राप्त होता है।"

इस प्रकार स्थूल शरीर का परिवर्तन उतना महत्त्वपूर्णं नहीं जितना कि सूक्ष्म शरीर का है। कृष्णभावनामृत-आन्दोलन लोगों में सूक्ष्म शरीर को प्रकाशित करने की शिक्षा प्रदान करता है। इस प्रसंग में आदर्श उदाहरण अम्बरीष महाराज का है—जिन्होंने अपने मन को सदैव भगवान् श्रीकृष्ण के चरणकमलों में लगाये रखा। *स वै मन: कृष्णपदारविन्दयो:।* इसी प्रकार इस जीवन में हमें अर्चाविग्रह रूप में उपस्थित श्रीकृष्ण के चरणकमलों में अपने मन को निरन्तर स्थिर रखना चाहिए। हमें उनकी पूजा भी करनी चाहिए। यदि हम अपनी वाणी को भगवान् के गुणगान में और कानों को उनकी लीलाओं के श्रवण करने में लगाएँ और यम-नियमों के द्वारा मन को कृष्णचेतना अग्रसर करने के लिए अक्षत रखें तो निश्चय ही हम आध्यात्मिक पद को प्राप्त कर सकेंगे। तब मृत्यु के समय मन, बुद्धि तथा अहंकार भौतिक रुप में दूषित नहीं होंगे। जीव के साथ मन, बुद्धि तथा अहंकार भी उपस्थित रहते हैं।

जब मन, बुद्धि तथा अहंकार शुद्ध हो जाते हैं, तो जीव की सारी कर्मेन्द्रियाँ आध्यात्मिक बन जाती हैं। इस तरह जीव सच्चिदानन्द रूप प्राप्त कर लेता है। परमेश्वर तो सदैव सच्चिदानन्द रूप है, किन्तु जीव भगवान् का अंश होकर भी सुखोपभोग की इच्छा से इस संसार में आकर भौतिक रुप में दूषित हो जाता है। भगवान् ने स्वयं *भगवद्गीता* (९.३४) में अपने धाम लौटने का नुस्खा बताया है—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।

मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायण: ॥

''सदैव मेरा चिन्तन करो और मेरे भक्त बनो। मेरी पूजा करो और मुझे ही नमस्कार करो। इस तरह मुझी में पूर्ण रूप से मग्न रहने पर तुम मेरे पास आ सकोगे।''

ममैते मनसा यद्यदसावहमिति ब्रुवन् ।
गृह्णीयात्तत्पुमान्राद्धं कर्म येन पुनर्भव: ॥ ६२ ॥

शब्दार्थ

मम—मेरा; एते—ये सब; मनसा—मन से; यत् यत्—जो जो; असौ—वह; अहम्—मैं (हूँ); इति—इस प्रकार; ब्रुवन्—स्वीकार करते हुए; गृह्णीयात्—अपने ऊपर ले लेता है; तत्—वह; पुमान्—जीव; राद्धम्—पूर्ण; कर्म—कर्म; येन—जिससे; पुन:—फिर; भव:—संसार।

जीव इस देहात्मबुद्धि के अन्तर्गत कार्य करता है कि, ''मैं यह हूँ, मैं वह हूँ, यह मेरा कर्तव्य है, अत: मैं इसे करूँगा।'' ये सब मानसिक संस्कार है और ये सारे कर्म अस्थायी हैं; फिर भी भगवान् के अनुग्रह से जीव को अपने समस्त मनोरथ पूरे करने का अवसर प्राप्त होता है। इस लिए उसे दूसरा शरीर प्राप्त होता है।

तात्पर्य : जब तक मनुष्य देहात्मबुद्धि में लीन रहता है, तब तक उसके सारे कार्य उसी स्तर पर सम्पन्न होते है। इसे समझना कठिन नहीं है। संसार में हम देख रहे है कि प्रत्येक राष्ट्र अन्य राष्ट्र को पिछाड़ देना चाह रहा है और प्रत्येक व्यक्ति अपने संगी व्यक्ति से आगे बढ़ जाना चाहता है। ये सारे कार्य सभ्यता की प्रगति के नाम पर चल रहे है। शरीर को सुखी बनाने की अनेक योजनाएँ है, जो स्थूल शरीर के नष्ट होने पर सूक्ष्म शरीर तक पहुँचती है। यह तथ्य नहीं है कि स्थूल शरीर के नष्ट हो जाने पर जीव भी नष्ट हो जाता है। यद्यपि अनेक महान् दार्शनिकों तथा शिक्षकों की यह मान्यता है कि शरीर के नष्ट होने पर सब कुछ नष्ट हो जाता है, किन्तु यह सच (तथ्य) नहीं है। इस श्लोक में नारद मुनि का कथन है कि मृत्यु आने पर मनुष्य अपनी योजनाएँ अपने साथ लेता जाता है (गृह्णीयात्) और

इन योजनाओं को सम्पन्न करने के लिए उसे दूसरा शरीर प्राप्त होता है। यही *पुनर्भव:* कहलाता है। जब स्थूल शरीर नष्ट हो जाता है, तो जीव की सारी योजनाएँ मन द्वारा ग्रहण कर ली जाती है और भगवदनुग्रह से जीव को अगले जीवन में इन योजनाओं को साकार करने का अवसर प्राप्त होता है। यह कर्म का विधान कहलाता है। जब तक मन कर्म-विधान में लिप्त रहता है उसे अगले जीवन में एक विशेष प्रकार का शरीर धारण करना पड़ता है।

इस शरीर को सुखी या दुखी बनाने के लिए किये गये कार्यों का समुच्चय कर्म है। हमने सचमुच यह देखा है कि जब एक सज्जन मरने वाले थे तो उन्होंने अपने डाक्टर से कहा कि वह उन्हें चार वर्षों तक और जीवित रहने का अवसर प्रदान करे जिससे वे अपनी योजनाएँ पूरी कर सकें। इसका अर्थ यह हुआ कि वे सज्जन मरते समय अपनी योजनाओं के विषय में सोच रहे थे। अपनी मृत्यु के बाद वह व्यक्ति अपनी योजनाएँ अपने सूक्ष्म शरीर द्वारा—जो मन, बुद्धि तथा अहंकार से बना है—अपने साथ लेता गया। इस प्रकार परमात्मा के अनुग्रह से, जो हमारे हृदय में सदैव विद्यमान है, उसे दूसरा अवसर प्राप्त होगा।

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्त: स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च—अगले जन्म में उसे परमात्मा से स्मृति प्राप्ति होती है और वह विगत जीवन की योजनाओं को सम्पन्न करने लगता है। *भगवद्गीता* के एक अन्य श्लोक (१८.६१) में भी इसकी व्याख्या की गई है—

ईश्वर: सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।

भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

''हे अर्जुन! परमेश्वर सबों के हृदय में स्थित है और उन समस्त जीवों को जो मानो माया से निर्मित यंत्र पर आरूढ़ हैं घूमने का निर्देशन कर रहा है।'' प्रकृति द्वारा प्रदत्त वाहन पर आसीन तथा अन्त:करण से परमात्मा द्वारा याद दिलाये जाने पर यह जीव अपनी योजनाओं की पूर्ति के लिए ब्रह्माण्ड-भर में यह सोचते हुए संघर्ष करता रहता है ''मैं ब्राह्मण हूँ, मैं क्षत्रिय हूँ, मैं अमरीकी हूँ, मैं भारतीय हूँ'' इत्यादि ये सारी उपाधियाँ एक-जैसी है। एक अमरीकी की अपेक्षा एक ब्राह्मण होने या नीग्रो की अपेक्षा एक अमरीकी बनने में कोई लाभ नहीं है। असल में यह सब प्रकृति के गुणों के अन्तर्गत देहात्मबुद्धि है।

यथानुमीयते चित्तमुभयैरिन्द्रियेहितैः ।
एवं प्राग्देहजं कर्म लक्ष्यते चित्तवृत्तिभिः ॥ ६३ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस प्रकार; अनुमीयते—अनुमान लगाया जा सकता है; चित्तम्—चेतना या मानसिक स्थिति; उभयैः—दोनों; इन्द्रिय—इन्द्रियों का; ईहितैः—क्रियाओं के द्वारा; एवम्—उसी तरह; प्राक्—पूर्व; देहजम्—शरीर द्वारा सम्पन्न; कर्म—कर्म; लक्ष्यते—देखा जा सकता है; चित्त—चेतना के; वृत्तिभिः—व्यापारों से।

जीव की मानसिक स्थिति को दो प्रकार की इन्द्रियों—कर्मेन्द्रियों तथा ज्ञानेन्द्रियों—द्वारा समझा जा सकता है। इसी प्रकार किसी मनुष्य की मानसिक स्थिति से उसके पूर्वजन्म की स्थिति को समझा जा सकता है।

तात्पर्य : अंग्रेजी में एक कहावत है, "मुख मन का दर्पण है।" यदि कोई क्रोधित होता है, तो उसका क्रोध उसके मुख पर तुरन्त प्रकट हो जाता है। इसी प्रकार स्थूल शरीर की क्रियाओं से अन्य मानसिक दशाएँ प्रकट होती है। दूसरे शब्दों में, स्थूल शरीर के सारे कार्य मानसिक अवस्था के प्रतिफल हैं। मन के कार्य है—सोचना, अनुभव करना तथा इच्छा करना। मन की इच्छाएँ शरीर की क्रियाओं से प्रकट होती हैं। निष्कर्ष यह है कि हम शरीर तथा इन्द्रियों की क्रियाओं से मन की अवस्था को समझ सकते हैं। पूर्वशरीर के पूर्वकर्मों द्वारा मन की अवस्था प्रभावित होती है। जब मन किसी इन्द्रिय विशेष के साथ जुड़ जाता है, तो किसी-न-किसी रूप में वह तुरन्त प्रकट हो जाता है। उदाहरणार्थ, जब मन में क्रोध रहता है, तो जीभ लड़खड़ाने लगती है। इसी प्रकार जब मन का क्रोध हाथों द्वारा प्रकट होता है, तो लड़ाई होने लगती है। पाँव द्वारा प्रकट होने पर पादप्रहार होता है। मन की सूक्ष्म क्रियाएँ विविध इन्द्रियों द्वारा अनेक प्रकार से प्रकट होती रहती है। कृष्णचेतना में भी मनुष्य का मन इसी प्रकार से कार्य करता है। जीभ हरे कृष्ण महामंत्र का जप करती है, आनन्दविभोर होने से हाथ ऊपर उठते हैं और पाँव नाचने लगते हैं। ये लक्षण *अष्ट-सात्त्विक-विकार* कहलाते हैं। *सात्त्विक-विकार* का अर्थ है सतोगुण भाव या कभी-कभी दिव्य अनुभूति में रूपान्तर।

नानुभूतं क्व चानेन देहेनादृष्टमश्रुतम् ।
कदाचिदुपलभ्येत यद्रूपं यादृगात्मनि ॥ ६४॥

शब्दार्थ

न—कभी नहीं; अनुभूतम्—अनुभव किया गया; क्व—किसी समय; च—भी; अनेन देहेन—इस शरीर से; अदृष्टम्—कभी न देखा गया; अश्रुतम्—कभी न सुना हुआ; कदाचित्—कभी कभी; उपलभ्येत—अनुभव किया जा सकता है; यत्—जो; रूपम्—रूप; यादृक्—जैसा भी; आत्मनि—मन में।.

कभी-कभी हमें ऐसी वस्तु का अचानक अनुभव होता है, जिसे हमने इस शरीर में देख या सुनकर कभी अनुभव नहीं किया। कभी-कभी हमें ऐसी वस्तुएँ अचानक स्वप्न में दिख जाती हैं।

तात्पर्य : कभी-कभी स्वप्न में हमें ऐसी वस्तुएँ दिखती हैं जिनका अनुभव हमने इस शरीर में कभी नहीं किया हो। कभी-कभी हम स्वप्नों में अपने आपको आकाश में उड़ते हुए अनुभव करते हैं, यद्यपि हमें उड़ने का कोई अनुभव नहीं होता। इसका अर्थ यह हुआ कि पूर्वजन्म में या तो हम देवता थे या आकाशचारी के रूप में आकाश में उड़े थे। मन में इन सब अनुभवों की छाप रहती है, जो अचानक प्रकट होते हैं। यह गहरे जल की तली पर होने वाली उस सड़न क्रिया के समान है, जो पानी की सतह पर प्रकट होने वाले बुलबुलों से कभी-कभी प्रकट होती है। कभी-कभी हम स्वप्न में ऐसे स्थान में पहुँच जाते हैं जिसे हम जीवन-भर न तो देखे रहते हैं, न अनुभव किये रहते हैं, किन्तु यह इस बात का प्रमाण है कि हमने पूर्वजन्म में इसका अनुभव किया था। यह छाप मन में संचित रहती है और कभी-कभी स्वप्न या विचार में प्रकट हो उठती है। तात्पर्य यह कि मन हमारे विगत जीवनों के अनुभवों तथा विविध विचारों का संग्रहालय है। इस प्रकार एक जीवन से दूसरे जीवन तक, विगत जीवन से इस जीवन तक और इससे भावी जीवन तक सातत्य-शृंखला बनी रहती है। इसकी पुष्टि ऐसे कथनों के द्वारा भी होती है कि अमुक व्यक्ति जन्मजात कवि, वैज्ञानिक या भक्त है। यदि हम महाराज अम्बरीष की तरह इस जीवन में कृष्ण का निरन्तर चिन्तन करें (*स वै मनः कृष्ण पदारविन्दयोः*) तो हम मृत्यु के समय भगवान् के धाम को चले जाएँगे। यदि हमारा कृष्णभक्त बनने का प्रयास पूरा नहीं भी हो पाता तो हमारी कृष्णभक्ति अगले जीवन में भी बनी रहेगी। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (६.४१) में हुई है—

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते॥

"असफल योगी पुण्यात्माओं के लोक में अनेकानेक वर्षों तक भोग करने के बाद धनी व्यक्तियों या सदाचारी लोगों के परिवार में जन्म लेता है।"

यदि हम कृष्ण-ध्यान के सिद्धान्तों का दृढ़ता से पालन करें तो निस्सन्देह, हम अगले जीवन में गोलोक वृन्दावन नामक कृष्णलोक को भेजे जायेंगे।

तेनास्य तादृशं राजँल्लिङ्गिनो देहसम्भवम् ।
श्रद्धत्स्वाननुभूतोऽर्थो न मनः स्प्रष्टुमर्हति ॥ ६५ ॥

शब्दार्थ

तेन—अतः; अस्य—जीव का; तादृशम्—उसके समान; राजन्—हे राजन्; लिङ्गिनः—सूक्ष्म मानसिक आवरण वाला; देह-सम्भवम्—पूर्वशरीर में उत्पन्न; श्रद्धत्स्व—इसे तथ्य मानो; अननुभूतः—अनदेखा; अर्थः—वस्तु; न—कभी नहीं; मनः—मन में; स्प्रष्टुम्—प्रकट करने के लिए; अर्हति—समर्थ है।.

अतः हे राजन्, सूक्ष्म मानसिक आवरण वाला यह जीव अपने पूर्व शरीर के कारण सभी प्रकार के विचार तथा प्रतिबिम्ब विकसित करता रहता है। मेरी बात को तुम निश्चय समझो। जब तक पूर्व शरीर में कोई वस्तु देखी हुई नहीं रहती, तब तक मन के द्वारा उसकी कल्पना करने की सम्भावना नहीं उठती।

तात्पर्य : कृष्ण-बहिर्मुख हञा भोगवाच्छा करे।

निकटस्थ माया तारे जापटिया धरे॥

(*प्रेम-विवर्त*)

भगवान् कृष्ण ही वास्तविक परम भोक्ता हैं। जब जीव उनका अनुकरण करना चाहता है, तो उसे भौतिक प्रकृति पर स्वामित्व जताने की अपनी झूठी अभिलाषाओं को पूरा करने का अवसर प्रदान कर दिया जाता है। यही उसके पतन का शुभारम्भ है। जब तक वह इस भौतिक वातावरण में रहता है, मन उसका सूक्ष्म वाहन रहता है, जो सभी प्रकार की भौतिक इच्छाओं का भण्डार है। ऐसी इच्छाएँ विविध शारीरिक रूपों में प्रकट होती है। श्रील नारद मुनि राजा से इस तथ्य को ग्रहण करने के लिए कहते हैं, क्योंकि वे अधिकारी हैं। निष्कर्ष यह है कि मन हमारी विगत इच्छाओं का भण्डार है और हमें यह वर्तमान शरीर उन्हीं विगत इच्छाओं के कारण प्राप्त हुआ है। इसी प्रकार इस शरीर में हम जो कुछ चाहते हैं, वह भावी शरीर में प्राप्त होगा। इस प्रकार मन विभिन्न प्रकार के शरीरों का स्रोत है।

यदि मन को कृष्णभक्ति द्वारा शुद्ध कर लिया जाये तो भविष्य में आध्यात्मिक तथा कृष्णभक्ति से युक्त शरीर ही प्राप्त होता रहेगा। ऐसा शरीर ही हमारा आदि रूप है जैसाकि श्री चैतन्य महाप्रभु ने पुष्टि की है— *जीवेर 'स्वरूप' हय—कृष्णेर 'नित्यदास'*—"प्रत्येक जीव स्वाभाविक रूप से कृष्ण का शाश्वत

दास है।'' यदि कोई व्यक्ति भगवान् की भक्ति में लगा रहता है, तो समझना चाहिए कि वह इसी जीवन में मुक्त हो चुका है। इसकी पुष्टि श्रील रूप गोस्वामी द्वारा हुई है (*भक्ति-रसामृत-सिन्धु* १.२.१८७)—

ईहा यस्य हरेर्दास्ये कर्मणा मनसा गिरा।

निखिलास्वप्यवस्थासु जीवन्मुक्त: स उच्यते॥

''जो मनसा, वाचा, कर्मणा भगवान् की दिव्य सेवा में लगा रहता है, उसे भौतिक जीवन की सभी अवस्थाओं में मुक्त समझना चाहिए।'' कृष्णभावनामृत आन्दोलन इसी सिद्धान्त पर आधारित है। हमें लोगों को भगवान् की सेवा में सदा लिप्त रहने की शिक्षा देनी चाहिए, क्योंकि वही उनकी स्वाभाविक स्थिति है। जो निरन्तर भगवान् की सेवा में लगा हो उसे पहले से मुक्त समझना चाहिए। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (१४.२६) में भी हुई है—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।

स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

''जो शुद्ध भक्ति के दिव्य कार्यों में सदैव लगा रहता है, वह तुरन्त प्रकृति के गुणों को पार करके आध्यात्मिक पद पर ऊपर उठ जाता है।'' अत: भक्त त्रिगुणातीत और ब्राह्मण-पद से भी परे होता है। ब्राह्मण रजो तथा तमो इन दो निम्नगुणों से दूषित हो सकता है। जो शुद्ध भक्त मानसिक स्तर पर अनुभव की गई भौतिक इच्छाओं से मुक्त होता है और काल्पनिक ज्ञान या सकाम कर्म से भी मुक्त होता है, वह भौतिक परिस्थितियों से ऊपर उठा हुआ तथा मुक्त होता है।

मन एव मनुष्यस्य पूर्वरूपाणि शंसति ।
भविष्यतश्च भद्रं ते तथैव न भविष्यत: ॥ ६६ ॥

शब्दार्थ

मन:—मन; एव—निश्चय ही; मनुष्यस्य—मनुष्य के; पूर्व—विगत; रूपाणि—अनेक रूप; शंसति—सूचित करता है; भविष्यत:—आगे जन्म लेने वाले का; च—भी; भद्रम्—कल्याण; ते—तुम्हारा; तथा—उसी तरह; एव—निश्चय ही; न—नहीं; भविष्यत:—भावी जन्म लेने वाले का।

हे राजन्, तुम्हारा कल्याण हो। यह मन प्रकृति के साहचर्य के अनुसार जीव द्वारा विशेष प्रकार का शरीर धारण करने का कारण है। मनुष्य अपने मानसिक संघटन के अनुसार यह जान सकता है कि पूर्वजन्म में वह कैसा था और भविष्य में वह कैसा शरीर धारण करेगा। इस प्रकार मन भूत (गत) तथा भावी शरीरों की सूचना देता है।

तात्पर्य : मन मनुष्य के गत तथा भावी जीवन विषयक सूचनाओं को देने वाला सूचकांक है। यदि कोई मनुष्य भगवान् का भक्त है उसने पूर्वजन्म में भक्ति की थी। इसी प्रकार यदि किसी का मन अपराधी है, तो वह पूर्वजन्म में अपराधी था। इसी प्रकार मन के अनुसार हम जान सकते हैं कि भावी जीवन में क्या-क्या होगा। *भगवद्गीता* (१४.१८) में यह कहा गया है—

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।

जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥

''जो लोग सतोगुणी हैं वे क्रमश: उच्च लोकों को जाते हैं; जो रजोगुणी हैं वे पृथ्वी लोक में रहते हैं और जो तमोगुणी हैं वे नरक लोकों को जाते हैं।''

यदि कोई मनुष्य सतोगुणी होता है, तो उसके मानसिक कार्य उसे उच्चलोकों को ले जायेंगे। इसी प्रकार यदि किसी की मानसिकता निम्न है, तो उसका भावी जीवन अत्यन्त घृणित होगा। जीव के भूत तथा भविष्य के जीवन उसकी मानसिक दशा से सूचित होते हैं। नारद मुनि यहाँ पर राजा को कल्याण का आशीर्वाद दे रहे हैं, जिससे राजा को किसी वस्तु की इच्छा अथवा इन्द्रियतृप्ति के लिए किसी प्रकार की योजना बनाने की आवश्यकता न रहे। राजा भविष्य में श्रेष्ठतर जीवन प्राप्त करने के उद्देश्य से सकाम अनुष्ठान करने में व्यस्त था। नारद मुनि चाहते थे कि वह सारे मनोरथ त्याग दे। जैसाकि पहले कहा जा चुका है, सारे देहधारी अपने मनोरथों के अनुसार स्वर्ग तथा नरक को जाते हैं और भौतिक सुख तथा दुख मानसिक धरातल तक ही सीमित होते हैं। वे मन रूपी रथ (मनोरथ) पर घटित होते हैं, अत: कहा गया है (*भागवत* ५.१८.१२) कि—

यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना

सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः ।

हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणा

मनोरथेनासति धावतो बहिः ॥

''जिसमें भगवान् के लिए अटूट निष्ठा होती है, उसमें देवताओं के समस्त सद्गुण पाये जाते हैं। किन्तु जो भगवद्भक्त नहीं है, उसमें भौतिक गुण ही पाये जाते हैं जिनका कोई मूल्य नहीं होता। इसका कारण यह है कि वह मानसिक धरातल पर मँडराता रहता है और माया की चमक-दमक के प्रति

निश्चित रुप से आकृष्ट होता रहता है।''

जब तक मनुष्य भगवद्भक्त नहीं बनता या पूर्ण रूप से कृष्णभावनाभावित नहीं हो जाता, तब तक वह मानसिक धरातल पर मँडराएगा और नाना प्रकार के शरीरों में उत्कर्ष तथा अपकर्ष को प्राप्त होगा। भौतिक दृष्टि से जिन गुणों को उत्तम माना जाता है, वे सब व्यर्थ होते हैं, क्योंकि इन तथाकथित गुणों से मनुष्य जन्म-मृत्यु के चक्र से नहीं छूट सकेगा। निष्कर्ष यह निकलता है कि मनुष्य को मनोरथ से रहित होना चाहिए। *अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्*—मनुष्य को भौतिक इच्छाओं, दार्शनिक चिन्तन तथा सकाम कर्म से सर्वथा मुक्त होना चाहिए। मानव जाति के लिए सर्वोत्तम मार्ग है कि वह भगवान् की दिव्य भक्ति को अनुकूल दृष्टि से स्वीकार कर ले। मानव-जीवन की सर्वोत्कृष्ट सार्थकता यही है।

अदृष्टमश्रुतं चात्र क्वचिन्मनसि दृश्यते ।
यथा तथानुमन्तव्यं देशकालक्रियाश्रयम् ॥ ६७॥

शब्दार्थ

अदृष्टम्—न देखी गई; अश्रुतम्—न सुनी गई; च—तथा; अत्र—इस जीवन में; क्वचित्—कभी; मनसि—मन में; दृश्यते—देखे जाते हैं; यथा—जिस प्रकार; तथा—उसी प्रकार; अनुमन्तव्यम्—समझा जाना चाहिए; देश—स्थान; काल—समय; क्रिया—कर्म; आश्रयम्—आश्रित।

कभी-कभी स्वप्न में हम ऐसी वस्तु देखते हैं, जिसको हम इस जीवन में कभी न तो अनुभव किये होते और न सुने होते हैं, किन्तु ये सभी घटनाएँ विभिन्न कालों, स्थानों तथा परिस्थितियों में अनुभव की गई होती हैं।

तात्पर्य : पिछले श्लोक में यह कहा गया था कि दिन में हम जो अनुभव करते हैं, उसे ही रात्रि में सपने में देखते हैं। किन्तु यह ऐसा क्यों है कि जिस वस्तु को न तो हमने देखा हो और न जिसके बारे में कभी सुना हो वह कभी-कभी हमें सपने में दिखती है? यहाँ यह कहा गया है कि भले ही इस जीवन में ऐसी घटनाओं का अनुभव न हुआ हो, वे पूर्वजन्मों में अनुभव की गई रहती हैं। काल तथा परिस्थिति के अनुसार वे इस प्रकार मिल जाती हैं कि स्वप्न में हमें कभी न अनुभव की गई किसी आश्चर्यजनक वस्तु के रूप में दिखती है। उदाहरणार्थ, हमें स्वप्न में पर्वत की चोटी पर समुद्र दिख सकता है, अथवा हम सूखा समुद्र देख सकते हैं। ये देश तथा काल में विभिन्न अनुभवों के मेल होते हैं। कभी-कभी हमें सुनहरा पर्वत दिखाई पड़ सकता है। यह सोना तथा पर्वत के पृथक् पृथक्

अनुभवों के कारण होता है। स्वप्न में मोहवश हम इन पृथक्-पृथक् कारकों को मिला देते हैं। इस प्रकार हम सुनहरा पर्वत या दिन के समय तारे देख पाते हैं। तात्पर्य यह कि ये सारे मनोरथ हैं, यद्यपि उनका वास्तविक अनुभव भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में हुआ रहता है। स्वप्न में मात्र वे मिल जाते है। अगले श्लोक में इसकी और भी व्याख्या की गई है।

सर्वे क्रमानुरोधेन मनसीन्द्रियगोचराः ।
आयान्ति बहुशो यान्ति सर्वे समनसो जनाः ॥ ६८ ॥

शब्दार्थ

सर्वे—सभी; क्रम-अनुरोधेन—क्रमानुसार; मनसि—मन में; इन्द्रिय—इन्द्रियों द्वारा; गोचराः—अनुभूत; आयान्ति—आते हैं; बहुशः—अनेक प्रकार से; यान्ति—चले जाते हैं; सर्वे—सभी; समनसः—मन से; जनाः—जीव।

जीव का मन विभिन्न स्थूल शरीरों में रहा करता है और इन्द्रियतृप्ति के लिए व्यक्ति की इच्छाओं के अनुसार मन विविध विचारों को अंकित करता रहता है। ये मन में विभिन्न मिश्रणों (मेलों) के रूप में प्रकट होते हैं। अतः कभी-कभी ये प्रतिबिम्ब ऐसी वस्तुओं के रूप में प्रकट होते हैं, जो पहले न तो कभी सुनी गई और न देखी गई होती हैं।

तात्पर्य : कुत्ते के शरीर में स्थित जीव के कार्यों का अनुभव किसी भिन्न शरीर के मन द्वारा किया जा सकता है, अत: ये कार्य न तो कभी सुने गए और न ही देखे गए प्रतीत होते हैं। मन बना रहता है, यद्यपि शरीर बदल जाता है। यहाँ तक कि इसी जीवन में भी हम कभी-कभी अपने बचपन के स्वप्नों का अनुभव करते हैं। यद्यपि ऐसी घटनाएँ बाद में विचित्र लगती हैं, किन्तु वे सब मन में अंकित हुई रहती हैं, फलत: वे स्वप्न में दिखाई पड़ती हैं। सूक्ष्म शरीर समस्त प्रकार की भौतिक इच्छाओं का भण्डार है और इसी के द्वारा आत्मा का देहान्तरण होता है। जब तक मनुष्य कृष्णभक्ति में पूर्ण रूप से निमग्न नहीं होगा, तब तक वे इच्छाएँ आती-जाती रहेंगी। यह तो मन का स्वभाव है सोचना, अनुभव करना और इच्छा करना। जब तक मन भगवान् कृष्ण के चरणकमलों के ध्यान में संलग्न नहीं होगा, तब तक वह नाना प्रकार के भौतिक भोगों की इच्छा करता रहेगा। ऐन्द्रिय प्रतिबिम्बों का अंकन क्रमानुसार हुआ रहता है और वे एक-एक करके प्रकट होते हैं, अत: जीव को एक के बाद दूसरा शरीर धारण करना होता है। मन भौतिक सुख की योजना बनाता है और स्थूल शरीर इन्हें पूरा करने के साधन प्रदान करता है। मन वह मंच है, जिससे होकर समस्त इच्छाएँ तथा योजनाएँ आती-जाती हैं।

अत: श्रील नरोत्तम दास ठाकुर गाते हैं—

गुरु मुख पद्मवाक्य, चित्तेते करिया ऐक्य

आर न करिह मने आशा।

नरोत्तम दास ठाकुर सबों को गुरु के आदेशों का पालन करने का उपदेश देते हैं। मनुष्य को और कोई कामना नहीं करनी चाहिए। यदि गुरु द्वारा बताये गये विधि-विधानों का दृढ़तापूर्वक पालन हो तो मन कृष्ण की सेवा के अतिरिक्ति अन्य किसी प्रकार की इच्छा नहीं कर सकेगा। ऐसा प्रशिक्षण ही जीवन की सार्थकता है।

सत्त्वैकनिष्ठे मनसि भगवत्पार्श्ववर्तिनि ।
तमश्चन्द्रमसीवेदमुपरज्यावभासते ॥ ६९ ॥

शब्दार्थ

सत्त्व-एक-निष्ठे—पूर्ण कृष्णचेतना में; मनसि—मन में; भगवत्—भगवान् के साथ; पार्श्व-वर्तिनि—लगातार साथ रहने से; तमः—अंध ग्रह; चन्द्रमसि—चन्द्रमा में; इव—सदृश; इदम्—यह दृश्य जगत; उपरज्य—सम्बन्धित होकर; अवभासते—प्रकट होता है।.

कृष्ण-चेतना का अर्थ है ऐसी मानसिक दशा में भगवान् के साथ निरन्तर साहचर्य जिससे कि भक्त इस दृश्य जगत् को वैसा ही देख सके जैसा कि भगवान् देख सकते हैं। ऐसा देख पाना सदैव सम्भव नहीं होता, लेकिन यह राहु नामक अंधग्रह के समान प्रकट होता है, जो पूर्ण चन्द्र होने पर ही देखा जाता है।

तात्पर्य : पिछले श्लोक में कहा गया है कि सारी इच्छाएँ एक-एक करके मन: पटल पर दृष्टिगोचर होती रहती हैं। किन्तु कभी-कभी भगवत्कृपा से इच्छाओं का सारा भण्डार एक ही बार में दृष्टिगोचर हो जाता है। *ब्रह्म-संहिता* (५.५४) में कहा गया है—*कर्माणि निर्दहति किन्तु च भक्तिभाजाम्।* जब मनुष्य कृष्णभक्ति में पूर्ण रूप से लीन होता है, तो भौतिक इच्छाओं का भण्डार न्यूनतम रहता है। दरअसल, ये इच्छाएँ स्थूल शरीर के रूप में प्रतिफलित नहीं होतीं, अपितु वे भगवान् कृपा से मन:पटल पर दृष्टिगोचर होती हैं।

इस प्रसंग में पूर्ण चन्द्र के समक्ष होने वाला अंधकार, जिसे चन्द्र-ग्रहण कहते हैं, राहु नामक एक अन्य ग्रह के रूप में होता है। वैदिक ज्योतिर्विज्ञान के अनुसार यद्यपि राहु ग्रह अदृश्य है, किन्तु इसे ग्रह के रूप में स्वीकार किया जाता है। कभी-कभी यह ग्रह पूर्णमासी की रात्रि में दिखता है। तब यह ग्रह

चन्द्रमा की कक्षा के निकट विद्यमान प्रतीत होता है। आधुनिक चन्द्रयात्रियों की विफलता का कारण यही राहु ग्रह हो सकता है दूसरे शब्दों में जो लोग चन्द्रमा की यात्रा पर जाते हैं, वे सम्भवत: इस अदृश्य राहु ग्रह की यात्रा करते है। वे चन्द्रमा तक न जाकर राहु ग्रह पर पहुंच कर ही वापस चले आते हैं। इस संदर्भ के अतिरिक्त बात यह है कि जीव में भौतिक सुखभोग की अनन्त इच्छाएँ रहती हैं और उसे एक स्थूल शरीर से अन्य शरीर में तब तक देहान्तर करना पड़ता है जब तक उन इच्छाओं का अन्त नहीं हो जाता।

जब तक जीव कृष्णभक्ति स्वीकार नहीं करता, कोई भी जीव जन्म-मृत्यु के चक्र से बच नहीं पाता, अत: इस श्लोक में स्पष्ट कहा गया है कि कृष्णभक्ति में तल्लीन होने पर एक ही झटके में जीव भूत तथा भविष्य के मनोरथों से मुक्त हो जाता है (*सत्त्वैकनिष्ठे*)। तब भगवत् कृपा से सारी वस्तुएँ एकसाथ मन के भीतर प्रकट होती है। इस प्रसंग में विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने माता यशोदा का उदाहरण दिया है जिन्हें भगवान् के मुख के भीतर सारा दृश्य जगत दिखा। भगवान् की ही कृपा से माता यशोदा को श्रीकृष्ण के मुख के भीतर सारे ब्रह्माण्ड तथा लोक दिखलाई पड़े। इसी प्रकार कृष्णभक्त एकसाथ अपनी सुप्त इच्छाओं को देख सकता है और भावी देहान्तर से सदा के लिए मुक्ति पा सकता है। यह सुविधा विशेषत: भक्त को प्रदान की जाती है, जिससे भगवान् के धाम वापस जाने का रास्ता साफ हो जाये।

यहाँ पर इसकी व्याख्या की गई है कि जिन वस्तुओं का अनुभव हमें इस जीवन में नहीं होता, उन्हें भी हम क्यों देखते हैं। जो कुछ हम देखते हैं, वह स्थूल देह की भावी अभिव्यक्ति होती है या जो पहले से ही मन:-पटल पर संचित होता है। चूँकि कृष्णभक्त को भावी स्थूल देह धारण नहीं करनी पड़ती, अत: उसकी अंकित इच्छाओं की पूर्ति स्वप्न में हो जाती है। इसीलिए कभी-कभी हमें स्वप्न में ऐसी वस्तुएँ दिख जाती है जिनका हमारे वर्तमान जीवन में अनुभव नहीं हुआ रहता।

नाहं ममेति भावोऽयं पुरुषे व्यवधीयते ।
यावद्बुद्धिमनोऽक्षार्थगुणव्यूहो ह्यनादिमान् ॥ ७० ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; अहम्—मैं; मम—मेरा; इति—इस प्रकार; भाव:—चेतना; अयम्—यह; पुरुषे—जीव में; व्यवधीयते—विलग रहता है; यावत्—जब तक; बुद्धि—बुद्धि; मन:—मन; अक्ष—इन्द्रियाँ; अर्थ—इन्द्रिय विषय; गुण—गुणों का; व्यूह:—प्राकट्य; हि—निश्चय ही; अनादि-मान्—सूक्ष्म शरीर (अनादि काल से विद्यमान)।

जब तक बुद्धि, मन, इन्द्रियों, विषयों तथा भौतिक गुणों के प्रतिफलों से बना हुआ सूक्ष्म भौतिक शरीर रहता है तब तक मिथ्या अहंकार और स्थूल शरीर भी रह जाते हैं।

तात्पर्य : मन, बुद्धि तथा अहंकार से निर्मित सूक्ष्म शरीर में इच्छाओं की पूर्ति क्षिति, जल, पावक, गगन तथा समीर से बने स्थूल शरीर के बिना पूरी नहीं हो सकतीं। जब स्थूल भौतिक शरीर प्रकट नहीं होता तो जीव वस्तुत: गुणों के अनुसार कार्य नहीं कर सकता। इस श्लोक में स्पष्ट बताया गया है कि मन तथा बुद्धि की सूक्ष्म क्रियाएँ जीव के सूक्ष्म शरीर के सुखों तथा दुखों के कारण चलती रहती हैं। भौतिक पहचान की चेतना (यथा मैं और मेरा) तब भी बनी रहती हैं, क्योंकि ऐसी चेतना अनादि काल से चली आ रही होती है। किन्तु यदि कोई कृष्णचेतना की समझ होने से आध्यात्मिक जगत में पहुँच जाता है, तो स्थूल तथा सूक्ष्म शरीरों के कार्य तथा कारण आत्मा को नहीं सताते।

सुप्तिमूर्च्छोपतापेषु प्राणायनविघाततः ।
नेहतेऽहमिति ज्ञानं मृत्युप्रज्वारयोरपि ॥ ७१ ॥

शब्दार्थ

सुप्ति—प्रगाढ़ निद्रा में; मूर्च्छ—बेहोशी; उपतापेषु—या आघात पहुँचने पर; प्राण-अयन—प्राण वायु के संचरण का; विघाततः—रुकावट से; न—नहीं; ईहते—सोचता है; अहम्—मैं; इति—इस प्रकार; ज्ञानम्—ज्ञान; मृत्यु—मरते हुए; प्रज्वारयो:—या प्रखर ज्वर होने पर; अपि—भी।

जब जीव गाढ़ निद्रा, मूर्च्छा, किसी गंभीर क्षति से उत्पन्न गहन आघात, मृत्यु के समय या प्रखर ज्वर की अवस्था में रहता है, तो प्राण-वायु का संचरण रुक जाता है। उस समय जीव आत्मा से शरीर की पहचान करने का ज्ञान खो देता है।

तात्पर्य : मूर्ख लोग आत्मा के अस्तित्व को नकारते हैं, किन्तु यह एक तथ्य है कि जब हम सो जाते हैं, तो हमें भौतिक शरीर की सुधि (पहचान) नहीं रहती और जगने पर सूक्ष्म शरीर की सुधि जाती रहती है। दूसरे शब्दों में, सोते समय हम स्थूल शरीर के कार्यों को भूल जाते हैं और जब स्थूल शरीर कार्य करता रहता है, तो हम सुप्तावस्था के कार्य भूल जाते हैं। वास्तव में निद्रा तथा जागरण दोनों ही अवस्थाएँ माया की सृष्टियाँ हैं। जीव का न तो सुप्तावस्था के कार्यों से और न जाग्रत अवस्था के कार्यों से कोई सम्बन्ध रहता है। जब मनुष्य प्रगाढ़ निद्रा या मूर्छावस्था में होता है, तो उसे स्थूल

शरीर की सुधि नहीं रहती। इसी प्रकार क्लोरोफार्म या अन्य किसी निश्चेतक के प्रभाव से जीव स्थूल शरीर को भूल जाता है और शल्य चिकित्सा के समय उसे पीड़ा का अनुभव नहीं होता है। इसी प्रकार जब किसी महान् क्षति से मनुष्य को एकाएक आघात पहुँचता है, तो वह स्थूल शरीर की पहचान को भूल जाता है। मृत्यु के समय, जब शरीर का ताप १०७ डिग्री तक बढ़ जाता है, तो जीव मूर्छावस्था में चला जाता है और अपने स्थूल शरीर को पहचान नहीं पाता। ऐसी दशाओं में शरीर के भीतर संचरण करने वाली प्राण-वायु रुद्ध हो जाती है और मनुष्य स्थूल शरीर की पहचान भूल जाता है। आध्यात्मिक शरीर के प्रति अज्ञान के कारण हमें उसके कार्यों का पता नहीं चल पाता और अज्ञान के कारण हम एक मिथ्या स्तर से दूसरे में कूदते रहते हैं। हम कभी स्थूल शरीर के प्रति कार्य करते हैं, तो कभी सूक्ष्म शरीर के प्रति। यदि हम कृष्ण की कृपा से अपने आध्यात्मिक शरीर में कार्य करते हैं, तो स्थूल तथा सूक्ष्म दोनों शरीरों से पार निकल जाते हैं। दूसरे शब्दों में, हम धीरे-धीरे आध्यात्मिक शरीर के प्रति कार्य करने का अभ्यास कर सकते हैं। जैसाकि *नारद पञ्चरात्र* में कहा गया है—*हृषीकेण हृषीकेश सेवनं भक्तिरुच्यते*—भक्ति का अर्थ आध्यात्मिक शरीर तथा आध्यात्मिक इन्द्रियों को भगवान् की सेवा में लगाना है। जब हम ऐसे कर्म में लग जाते हैं, तो स्थूल तथा सूक्ष्म शरीरों के कर्म तथा प्रतिफल रुक जाते हैं।

गर्भे बाल्येऽप्यपौष्कल्यादेकादशविधं तदा ।
लिङ्गं न दृश्यते यूनः कुह्वां चन्द्रमसो यथा ॥ ७२ ॥

शब्दार्थ

गर्भे—गर्भ में; बाल्ये—बाल्यकाल में; अपि—भी; अपौष्कल्यात्—अविकसित होने के कारण; एकादश—दस इन्द्रियाँ तथा मन; विधम्—के रूप में; तदा—उस समय; लिङ्गम्—सूक्ष्म शरीर अथवा मिथ्या अहंकार; न—नहीं; दृश्यते—दिखाई पड़ता है; यूनः—तरुण का; कुह्वाम्—अमावस्या में; चन्द्रमसः—चन्द्रमा; यथा—जिस तरह।

जब मनुष्य तरुण होता है, तो दसों इन्द्रियाँ तथा मन पूरी तरह दिखाई पड़ते हैं, किन्तु माता के गर्भ या बाल्यकाल में इन्द्रियाँ तथा मन उसी तरह ढके रहते हैं जिस तरह अमावस्या की रात्रि के अंधकार से पूर्ण-चन्द्रमा ढका रहता है।

तात्पर्य : जब जीव गर्भ में रहता है, तो उसका स्थूल शरीर, दस इन्द्रियाँ तथा मन पूर्णतः विकसित नहीं होते। तब इन्द्रियों के विषय उसे विचलित नहीं कर पाते। किसी स्वप्न में एक तरुण व्यक्ति तरुणी को उपस्थित देख सकता है, क्योंकि तब इन्द्रियाँ सक्रिय होती हैं। किन्तु एक शिशु या बालक अपने

स्वप्नों में तरुणी को नहीं देखेगा। युवावस्था में, स्वप्न में भी इन्द्रियाँ सक्रिय रहती हैं, अत: तरुणी के उपस्थित न होने पर भी इन्द्रियाँ अपना कार्य करती हैं और वीर्य-स्खलन हो सकता है। सूक्ष्म तथा स्थूल शरीरों के कार्य इस बात पर निर्भर करते हैं कि परिस्थितियाँ कितनी विकसित हैं। यहाँ पर चन्द्रमा का उदाहरण अत्यन्त उपयुक्त है। अमावस्या की रात्रि में, यद्यपि पूर्ण चमकता हुआ चन्द्रमा उपस्थित रहता है, किन्तु परिस्थितियों के कारण वह उपस्थित नहीं जान पड़ता। इसी प्रकार जीव की इन्द्रियाँ विद्यमान होती हैं, किन्तु वे तभी सक्रिय होती हैं जब स्थूल तथा सूक्ष्म शरीर विकसित हो जाते हैं। जब तक स्थूल शरीर की इन्द्रियाँ विकसित नहीं हो जातीं तब तक वे सूक्ष्म शरीर पर कोई क्रिया नहीं करतीं। इसी प्रकार सूक्ष्म शरीर में इच्छाओं के अभाव के कारण स्थूल शरीर का विकास नहीं हो पाता।

अर्थे ह्यविद्यमानेऽपि संसृतिर्न निवर्तते ।
ध्यायतो विषयानस्य स्वप्नेऽनर्थागमो यथा ॥ ७३ ॥

शब्दार्थ

अर्थे—इन्द्रिय विषय; हि—निश्चय ही; अविद्यमाने—अनुपस्थिति में; अपि—यद्यपि; संसृतिः—भौतिक संसार; न—कभी नहीं; निवर्तते—रुक जाता है; ध्यायतः—ध्यान करते हुए; विषयान्—इन्द्रिय विषयों के बारे में; अस्य—जीव का; स्वप्ने—स्वप्न में; अनर्थ—अवांछित वस्तुओं का; आगमः—प्राकट्य; यथा—जिस प्रकार।

जब जीव स्वप्न देखता है, तो वास्तव में इन्द्रियविषय उपस्थित नहीं रहते। किन्तु इन्द्रियविषयों के साथ मनुष्य का सम्पर्क होने से वे प्रकट हो जाते हैं। इसी प्रकार अविकसित इन्द्रियों वाले जीव का भौतिक रूप से अस्तित्व समाप्त नहीं हो जाता, भले ही वह इन्द्रियविषयों के सम्पर्क में न हो।

तात्पर्य : कभी-कभी कहा जाता है कि बच्चा अबोध (निर्दोष) है इसलिए वह पूर्ण रूप से शुद्ध है, किन्तु वास्तव में तथ्य यह नहीं है। कर्मों के प्रभाव, जो कि सूक्ष्म शरीर में सुरक्षित रहते हैं, तीन क्रमागत अवस्थाओं—बीज (मूल), *कूटस्थ* (इच्छा) तथा *फलोन्मुख* (फलने के निकट) में प्रकट होते हैं। प्रकट अवस्था *प्रारब्ध* (पहले से कार्यशील) कहलाती है। चेतन अथवा अचेतन अवस्था में सूक्ष्म अथवा स्थूल शरीर की क्रियाएँ भले ही प्रकट न हों, किन्तु ऐसी अवस्थाएँ मुक्त नहीं कही जा सकतीं। शिशु भले ही अबोध हो, किन्तु उसे मुक्तात्मा नहीं कहा जा सकता है। प्रत्येक वस्तु आरक्षित रहती है और यथासमय प्रकट होती है। सूक्ष्म शरीर में किसी प्रकार के प्राकट्य के अभाव में भी

इन्द्रियभोग के विषय कार्य कर सकते हैं। हमने ऊपर स्वप्नदोष का उल्लेख किया है, जिसमें भौतिक इन्द्रियाँ भौतिक पदार्थों के प्रकट न रहने पर भी कार्य करती हैं। भले ही सूक्ष्म शरीर में प्रकृति के तीनों गुण प्रकट न हों, किन्तु इनका दूषण (कल्मष) सुरक्षित रहता है और यथासमय प्रकट होता है। यदि सूक्ष्म तथा स्थूल शरीरों की प्रतिक्रयाएँ नहीं भी प्रकट हों तो भी मनुष्य भौतिक परिस्थितियों से मुक्त नहीं हो पाता। इसलिए यह कहना गलत है कि शिशु मुक्तात्मा के समान निर्दोष होता है।

एवं पञ्चविधं लिङ्गं त्रिवृत्षोडश विस्तृतम् ।
एष चेतनया युक्तो जीव इत्यभिधीयते ॥ ७४॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; पञ्च-विधम्—पाँच इन्द्रियविषयों; लिङ्गम्—सूक्ष्म शरीर; त्रि-वृत्—तीनों गुणों से प्रभावित; षोडश—सोलह; विस्तृतम्—फैला हुआ; एषः—यह; चेतनया—जीव के साथ; युक्तः—जुड़ा हुआ; जीवः—बद्धजीव; इति—इस प्रकार; अभिधीयते—माना जाता है।.

पाँच इन्द्रिय विषय, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा मन—ये सोलह भौतिक विस्तार हैं। ये सब जीव के साथ संयोजित रहते हैं और प्रकृति के तीनों गुणों द्वारा प्रभावित होते हैं। इस प्रकार बद्धजीव के अस्तित्व को समझा जाता है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (१५.७) में भगवान् कृष्ण कहते हैं—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।

मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥

"इस बद्ध जगत में सारे जीव मेरे ही शाश्वत भिन्न अंश हैं। बद्धजीव होने से वे मन समेत छः इन्द्रियों के साथ कठिन संघर्ष करते रहते हैं।"

यहाँ इसकी भी व्याख्या हुई है कि जीव सोलह भौतिक तत्त्वों के सम्पर्क में आता है और प्रकृति के तीन गुणों से प्रभावित होता है। जीव तथा सोलह तत्त्वों का यह समुच्चय मिलकर *जीव-भूत* बनाते हैं, जो बद्धजीव है और प्रकृति के अन्तर्गत कठिन संघर्ष करता है। सबसे पहले समग्र जगत प्रकृति के तीनों गुणों से विक्षुब्ध होता है और वे जीव की जीवन-अवस्थाएँ बन जाते हैं। इस प्रकार सूक्ष्म तथा स्थूल शरीर विकास करते रहते हैं और पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश इत्यादि अवयव स्वरूप रहते हैं। श्री मध्वाचार्य के अनुसार जब चेतना, जो हृदय की जीवनीशक्ति है, प्रकृति के तीनों गुणों द्वारा विक्षुब्ध होती है तब जीव का सूक्ष्म शरीर भौतिक अवस्था में कार्य करने के लिए सम्भव होता है, जो

मन, इन्द्रिय पदार्थों, पाँच ज्ञानेन्द्रियों तथा पाँच कर्मेन्द्रियों से युक्त होता है।

अनेन पुरुषो देहानुपादत्ते विमुञ्चति ।
हर्षं शोकं भयं दु:खं सुखं चानेन विन्दति ॥ ७५ ॥

शब्दार्थ

अनेन—इस विधि से; पुरुष:—जीव; देहान्—स्थूल शरीरों को; उपादत्ते—प्राप्त करता है; विमुञ्चति—त्यागता है; हर्षम्—प्रसन्नता; शोकम्—शोक; भयम्—भय, डर; दु:खम्—दुख; सुखम्—सुख; च—भी; अनेन—स्थूल शरीर से; विन्दति—भोगता है।

सूक्ष्म शरीर की क्रियाओं से जीव स्थूल शरीरों को विकसित करता और त्यागता रहता है। यह आत्मा का देहान्तरण कहलाता है। इस प्रकार आत्मा विभिन्न प्रकार के हर्ष, शोक, भय, सुख तथा दुख का अनुभव करता है।

तात्पर्य : इस व्याख्या से स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है कि मूलत: जीव का स्वरूप भगवान् के ही समान शुद्ध आध्यात्मिक था। किन्तु जब इस संसार में मन इन्द्रियतृप्ति की इच्छाओं से दूषित हो जाता है, तो वह भौतिक अवस्था में चला आता है और अपना भौतिक जीवन प्रारम्भ करता है, जिसका अर्थ है कि वह एक शरीर से दूसरे में जाता है और इस संसार में अधिकाधिक फँसता जाता है। कृष्णभावनामृत की विधि जिसमें मनुष्य सदैव कृष्ण का चिन्तन करता है। वह दिव्य विधि है, जिससे मनुष्य अपनी मूल आध्यात्मिक स्थिति को लौट सकता है। भक्ति का अर्थ है श्रीकृष्ण का सदैव चिन्तन।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥

"सदैव मेरा चिन्तन करो और मेरे भक्त बनो। मेरी पूजा करो और मुझे ही नमस्कार करो। इस प्रकार तुम निश्चय ही मेरे पास आओगे। मैं तुम्हें यह वचन देता हूँ, क्योंकि तुम मेरे प्रिय मित्र हो" (*भगवद्गीता* १८.६५)।

मनुष्य को सदैव भगवान् की भक्ति करनी चाहिए। जैसाकि अर्चना-मार्ग में संस्तुत है, मनुष्य को चाहिए कि मन्दिर में श्रीविग्रह की पूजा करे और गुरु तथा श्रीविग्रह को निरन्तर नमस्कार करे। ये विधियाँ उन लोगों के लिए हैं, जो वास्तव में भौतिक बन्धन से मुक्त होना चाहते हैं। आधुनिक मनोविज्ञानी मन की क्रियाओं—चिन्तन, अनुभव तथा कामना—का अध्ययन कर सकते हैं, किन्तु वे

गहराई तक नहीं जा पाते। यह उनके ज्ञान के अभाव तथा किसी मुक्त आचार्य की संगति न होने के कारण है।

जैसाकि *भगवद्गीता* (४.२) में कहा गया है—

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।

स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप॥

"इस प्रकार शिष्य-परम्परा द्वारा यह परम ज्ञान प्राप्त किया गया और राजर्षियों ने इसे इस विधि से जाना, किन्तु कालक्रम में यह परम्परा खण्डित हो गई जिससे यह विज्ञान यथार्थ रूप में लुप्त हो गया प्रतीत होता है।" तथाकथित मनोविज्ञानियों एवं दार्शनिकों के पथ-प्रदर्शन में आधुनिक युग के लोग सूक्ष्म शरीर के कार्यों से अपरिचित हैं, अतः वे आत्मा के देहान्तर का अभिप्राय नहीं समझ पाते। ऐसे विषयों में हमें *भगवद्गीता* के (२.१३) प्रामाणिक कथनों को मानना चाहिए—

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।

तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥

"जिस प्रकार बद्धजीव को इस देह में क्रम से कौमार, यौवन तथा वृद्धावस्था की प्राप्ति होती है, उसी तरह मृत्यु होने पर अन्य देह की प्राप्ति होती है। स्वरूपसिद्ध धीर पुरुष इस परिवर्तन से सम्मोहित नहीं होता।" जब तक सारा मानव-समाज *भगवद्गीता* के इस महत्त्वपूर्ण श्लोक को नहीं समझ लेता, तब तक सभ्यता ज्ञान की ओर नहीं, अपितु अज्ञान की दिशा में बढ़ती जाएगी।

यथा तृणजलूकेयं नापयात्यपयाति च ।
न त्यजेन्म्रियमाणोऽपि प्राग्देहाभिमतिं जनः ॥ ७६ ॥
यावदन्यं न विन्देत व्यवधानेन कर्मणाम् ।
मन एव मनुष्येन्द्र भूतानां भवभावनम् ॥ ७७ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस प्रकार; तृण-जलूका—एक प्रकार का कीट; इयम्—यह; न अपयाति—जाती नहीं है; अपयाति—जाती है; च—भी; न—नहीं; त्यजेत्—त्याग देता है; म्रियमाणः—मरणप्राय; अपि—भी; प्राक्—पूर्व; देह—शरीर के साथ; अभिमतिम्—पहचान; जनः—व्यक्ति; यावत्—जब तक; अन्यम्—दूसरा; न—नहीं; विन्देत—प्राप्त करता है; व्यवधानेन—रुकने से; कर्मणाम्—कर्मों का; मनः—मन; एव—निश्चय ही; मनुष्य-इन्द्र—हे पुरुषों के शासक; भूतानाम्—समस्त जीवों का; भव—संसार का; भावनम्—कारण।

इल्ली (कीट विशेष) एक पत्ती को छोड़ने के पहले दूसरी पत्ती को पकड़ कर एक से दूसरी

पत्ती में जाती है। इसी प्रकार जीव को अपना शरीर त्यागने के पूर्व अपने पूर्व कर्म के अनुसार अन्य शरीर को ग्रहण करना होता है। इसका कारण यह है कि मन सभी प्रकार की इच्छाओं का आगार (भण्डार) है।

तात्पर्य : भौतिक कार्य में अत्यधिक लिप्त जीव भौतिक शरीर के प्रति बहुत अधिक आसक्त रहता है। यहाँ तक कि मृत्यु के समय भी वह अपने शरीर के विषय में तथा अपने सम्बन्धियों के बारे में सोचता रहता है। इस प्रकार वह देहात्मबुद्धि में इतना लीन रहता है कि मृत्यु के क्षण तक भी अपने वर्तमान शरीर को छोड़ना नहीं चाहता। कभी-कभी कोई कोई व्यक्ति मृत्यु के पूर्व अनेक दिनों तक मूर्छावस्था में रहता है। यह विशेष रूप से उन तथाकथित राजनीतिज्ञों तथा नेताओं के साथ घटित होता है, जो यह सोचते हैं कि उनके बिना सारे देश तथा समाज में अराजकता फैल जाएगी। यही माया है। राजनीतिक नेता अपना राजनीतिक पद नहीं छोड़ना चाहते। उनका या तो किसी शत्रु के द्वारा वध कर दिया जाता है या फिर मृत्यु उन्हें मिटा देती है। उत्तम व्यवस्था द्वारा जीव को दूसरा शरीर प्रदान किया जाता है, किन्तु वर्तमान शरीर के प्रति आसक्ति के कारण वह दूसरे शरीर में नहीं जाना चाहता, अत: उसे प्राकृतिक नियमों के द्वारा दूसरा शरीर स्वीकार करने को बाध्य किया जाता है।

प्रकृते: क्रियमाणानि गुणै: कर्माणि सर्वश: ।

अहंकारविमूढात्मा कर्त्ताहमिति मन्यते ॥

''प्रकृति के तीन गुणों के अधीन मोहग्रस्त जीव अपने आपको उन समस्त कार्यों का कर्त्ता मान बैठता है, जो वास्तव में प्रकृति द्वारा सम्पन्न होते हैं'' (*भगवद्गीता* ३.२७) ।

प्रकृति अत्यन्त प्रबल है और भौतिक गुण मनुष्य को दूसरा शरीर ग्रहण करने के लिए बाध्य कर देते हैं। यह शक्ति तब दिखती है जब जीव एक उत्तम शरीर से अधम शरीर में जाता है। जो मनुष्य इस शरीर में कुत्ते या सुअर जैसा आचरण करता है उसे अगले जीवन में कुत्ते या सुअर का शरीर धारण करना होगा। भले ही कोई प्रधान मंत्री या राष्ट्रपति के शरीर का भोग कर रहा हो, किन्तु जब उसे यह पता चल जाता है कि उसे कुत्ते या सुअर का शरीर धारण करना पड़ेगा तो वह वर्तमान शरीर को त्यागना नहीं चाहता। अत: वह मृत्यु के पूर्व अनेक दिनों तक मूर्छा में पड़ा रहता है। अनेक राजनेताओं की मृत्यु के समय ऐसा देखा गया है। निष्कर्ष यह है कि अगला शरीर परम नियन्ता द्वारा पहले से ही

निश्चित कर दिया जाता है। जीव तुरन्त ही वर्तमान शरीर को छोड़ कर दूसरे में प्रवेश कर जाता है। कभी-कभी जीव अनुभव करता है कि वर्तमान शरीर की उसकी अनेक इच्छाएँ पूरी नहीं हो पाईं। जो अपने जीवन के प्रति अत्यधिक आसक्त होते हैं उन्हें प्रेत शरीर में रहना पड़ता है और दूसरा स्थूल शरीर धारण करने को नहीं मिलता। यहाँ तक कि प्रेत शरीर में भी वे अपने पड़ोसियों तथा सम्बन्धियों को तंग करते रहते हैं। ऐसी स्थिति का मुख्य कारण मन है। मन के ही अनुसार विभिन्न प्रकार के शरीर उत्पन्न होते हैं और जीव को उन्हें ग्रहण करना पड़ता है, जिसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (८.६) में हुई है—

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।

तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावित: ॥

"शरीर छोड़ते समय मनुष्य जैसी अवस्था का स्मरण करता है उसे वह निश्चित रूप से वही प्राप्त करता है।" अपने शरीर तथा मन में मनुष्य चाहे कुत्ते की तरह या ईश्वर की तरह सोच सकता है और उसे अगला जीवन उसी के अनुसार मिलता है। इसकी व्याख्या *भगवद्गीता* (१३.२२) में की गई है—

पुरुष: प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्।

कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥

"प्रकृति में स्थित जीवात्मा प्रकृति से उत्पन्न तीनों गुणों का भोग करते हुए जीवन शैली अपनाता है। गुणों का यही संग जीवात्मा के उत्तम-अधम योनियों में जन्म का कारण है।" जीव भौतिक गुणों के संग के अनुसार ही उत्तम या अधम शरीर में देहान्तर करता है। यदि वह तमोगुण का साथ करता है, तो उसे पशु या अधम व्यक्ति का शरीर प्राप्त होता है, किन्तु यदि वह सतो या रजोगुण का साथ करता है, तो उसे तदनुसार शरीर प्राप्त होता है। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (१४.१८) में भी हुई है—

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसा: ।

जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गन्छन्ति तामसा: ॥

"जो लोग सतोगुणी हैं, वे क्रमश: उच्चलोकों को जाते हैं, जो रजोगुणी हैं, वे पृथ्वी लोक पर रह पाते हैं, किन्तु जो तमोगुणी हैं, उनका नरकलोकों को अधोपतन होता हैं।"

संगति का मूल कारण मन है। यह महान् कृष्णभावनामृत-आन्दोलन मानव-समाज के लिए वरदान है, क्योंकि भक्ति के द्वारा यह सबों को कृष्ण के विषय में निरन्तर चिन्तन करने की शिक्षा देता

है। इस प्रकार जीवन के अन्त में मनुष्य कृष्ण की संगति को प्राप्त होता है। यह *नित्य लीला प्रविष्ट* अर्थात् गोलोक वृन्दावन में प्रवेश कहलाता है। *भगवद्गीता* (१८.५५) का कथन है—

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वत:।

ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥

"केवल भक्ति के द्वारा भगवान् के सही रूप को समझा जा सकता है। जब कोई ऐसी भक्ति से परमेश्वर का पूर्ण बोध प्राप्त कर लेता है, तो वह भगवान् के धाम में प्रविष्ट हो सकता है।" कृष्णभक्ति में मन के पूर्ण रूप से लीन होने पर मनुष्य गोलोक वृन्दावन नामक लोक में प्रवेश कर सकता है। भगवान् की संगति को प्राप्त करने के लिए कृष्ण को समझना आवश्यक है। कृष्ण को समझने की विधि भक्ति कहलाती है।

कृष्ण के स्वरूप को समझ लेने पर मनुष्य कृष्णलोक में प्रवेश करने और उनकी संगति करने का पात्र बन जाता है। ऐसे प्रतिष्ठित पद का कारण मन है। मन से ही मनुष्य को कुत्तों तथा सुअरों जैसे शरीर प्राप्त हो सकते हैं। अत: मन को कृष्णभक्ति में लीन रखना मानव जीवन की महानतम सिद्धि है।

यदाक्षैश्चरितान्ध्यायन्कर्माण्याचिनुतेऽसकृत्।
सति कर्मण्यविद्यायां बन्ध: कर्मण्यनात्मन:॥ ७८॥

शब्दार्थ

यदा—जब; अक्षै:—इन्द्रियों द्वारा; चरितान्—भोगे गये सुख; ध्यायन्—चिन्तन करते हुए; कर्माणि—कर्म; आचिनुते—करता है; असकृत्—सदैव; सति कर्मणि—जब भौतिक व्यापार होते रहते हैं; अविद्यायाम्—मोहवश; बन्ध:—बन्धन; कर्मणि—कर्म में; अनात्मन:—भौतिक शरीर का।

जब तक हम इन्द्रियसुखों का भोग करना चाहते हैं तब तक हम भौतिक कार्यों की सृष्टि करते रहते हैं। जब जीव भौतिक क्षेत्र में कर्म करता है, तो वह इन्द्रियों को भोगता है और ऐसा करने से वह भौतिक कर्मों की एक और शृंखला को जन्म देता है। इस प्रकार जीवात्मा बद्ध आत्मा के रूप में जकड़ जाता है।

तात्पर्य : सूक्ष्म शरीर में रहते हुए हम इन्द्रियतृप्ति के हेतु अनेक योजनाएँ बनाते हैं। ये सारी योजनाएँ मन में बीज रूप में अंकित होती रहती हैं। बद्ध जीवन में जीव एक के बाद एक अनेक शरीरों की शृंखला को जन्म देता है। यह कर्म-बन्धन कहलाता है। जैसाकि *भगवद्गीता* (३.९) में कहा गया है—*यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धन:*—यदि हम विष्णु को प्रसन्न करने के लिए ही

कर्म करते हैं, तो भौतिक कर्म के कारण बन्धन नहीं होता, किन्तु यदि हम ऐसा नहीं करते तो हम एक-एक करके भौतिक कर्मों में बँधते जाते हैं। ऐसी दशा में यह मान लेना होगा कि चिन्तन, अनुभव तथा इच्छा से हम भावी भौतिक शरीरों की सृष्टि करते रहते हैं। भक्तिविनोद ठाकुर के शब्दों में—*अनादि कर्म फले, पडि'भवार्णव जले*। जीव अपने पुराने भौतिक कर्मों के कारण कर्मबन्धन के सागर में गिर जाता है। इस तरह भौतिक कर्म के समुद्र में गोता लगाने की बजाय हमें केवल जीवन निर्वाह के लिए भौतिक कर्म करना चाहिए। शेष समय भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में लगाना चाहिए। इस प्रकार कर्म के फल से उबरा जा सकता है।

अतस्तदपवादार्थं भज सर्वात्मना हरिम् ।
पश्यंस्तदात्मकं विश्वं स्थित्युत्पत्त्यप्यया यतः ॥ ७९ ॥

शब्दार्थ

अतः—अतएव; तत्—उस; अपवाद-अर्थम्—छुटकारा पाने के लिए; भज—भक्ति में लगो; सर्व-आत्मना—अपनी सारी इन्द्रियों सहित; हरिम्—भगवान् को; पश्यन्—देखते हुए; तत्—भगवान् का; आत्मकम्—वश में; विश्वम्—दृश्य जगत; स्थिति—पालन; उत्पत्ति—सृष्टि; अप्यया:—तथा संहार; यतः—जिससे।

तुम्हें यह सदैव जानना चाहिए कि भगवान् की इच्छा से ही इस दृश्य जगत की उत्पत्ति, पालन तथा संहार होता है। फलतः इस दृश्य जगत के अन्तर्गत सारी वस्तुएँ भगवान् के अधीन हैं। इस पूर्ण ज्ञान से प्रकाश प्राप्त करने के लिए मनुष्य को सदैव भगवद्भक्ति में लगे रहना चाहिए।

तात्पर्य : भौतिक अवस्था में आत्म-साक्षात्कार अथवा अपने को ब्रह्म या आत्मा मानना अत्यन्त कठिन है। किन्तु यदि हम भगवद्भक्ति अपना लेते हैं, तो भगवान् शनै-शनै स्वयं को प्रकट करते हैं। इस प्रकार प्रगतिशील भक्त को धीरे-धीरे अपनी आध्यात्मिक स्थिति का पता चल जाता है। हम रात्रि के अंधकार में कुछ भी नहीं देख सकते, यहाँ तक कि स्वयं को भी नहीं देख पाते, किन्तु जब धूप रहती है, तो हम न केवल सूर्य को अपितु इस संसार की सारी वस्तुओं को भी देखते हैं। *भगवद्गीता* (७.१) में भगवान् कृष्ण कहते हैं—

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः ।

असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥

"हे पार्थ! अब सुनो कि किस प्रकार मेरी पूर्ण चेतना में मन को मुझमें लगाकर योग का अभ्यास

करने से तुम मुझे पूरी तरह संशय-रहित हो कर जान सकते हो, इसमें कोई संशय नहीं है।''

जब हम कृष्णभावनाभावित होने के उद्देश्य से अपने आपको भगवद्भक्ति में लगाते हैं, तो हम न केवल कृष्ण को अपितु उनसे सम्बन्धित प्रत्येक बात को समझ लेते हैं। दूसरे शब्दों में, कृष्णचेतना द्वारा न केवल कृष्ण तथा दृश्य जगत को अपितु अपनी स्वाभाविक स्थिति को भी समझा जा सकता है। कृष्णचेतना में रहकर हम यह समझ सकते हैं इस सृष्टि की उत्पत्ति, इसका पालन तथा इसका संहार भगवान् के द्वारा होता है। हम भी भगवान् के भिन्नांश हैं। उन्हीं के नियंत्रण में सारी वस्तुएँ हैं, अत: हमारा एकमात्र कर्तव्य है कि हम परमेश्वर की शरण में जाँय और उनकी दिव्य प्रेमपूर्ण सेवा में लग जाँय।

मैत्रेय उवाच
भागवतमुख्यो भगवान्नारदो हंसयोर्गतिम् ।
प्रदर्श्य ह्यमुमामन्त्र्य सिद्धलोकं ततोऽगमत् ॥ ८० ॥

शब्दार्थ

मैत्रेय: उवाच—मैत्रेय ने कहा; भागवत—भक्तों का; मुख्य:—प्रमुख; भगवान्—अत्यन्त शक्तिमान; नारद:—नारद मुनि; हंसयो:—जीव तथा भगवान् की; गतिम्—स्वाभाविक स्थिति; प्रदर्श्य—दिखला कर; हि—निश्चय ही; अमुम्—उस (राजा) को; आमन्त्र्य—बुलाकर; सिद्ध-लोकम्—सिद्ध लोक को; तत:—तत्पश्चात्; अगमत्—चला गया।

मैत्रेय ऋषि ने कहा : महान् सन्त तथा परम भक्त नारद ने इस प्रकार राजा प्राचीनबर्हि के समक्ष भगवान् तथा जीव की स्वाभाविक स्थिति की व्याख्या प्रस्तुत की। राजा को आमंत्रित करते हुए नारद मुनि सिद्धलोक को वापस चले गये।

तात्पर्य : सिद्धलोक तथा ब्रह्मलोक एक ही लोक-मंडल के भीतर हैं। ब्रह्मलोक इस ब्रह्माण्ड में सबसे ऊपर स्थित लोक समझा है और सिद्धलोक इसका उपग्रह है। सिद्धलोक के सभी निवासी योगशक्ति से सम्पन्न होते हैं। इस श्लोक से प्रतीत होता है कि नारद मुनि सिद्धलोक के वासी हैं, यद्यपि वे सभी लोकों में विचरण करते रहते हैं। सिद्धलोक के सभी निवासी अन्तरिक्ष-पुरुष हैं और वे बिना किसी यंत्र के अन्तरिक्ष में विचरण कर सकते हैं। सिद्धलोक के वासी मात्र अपनी योगिक सिद्धि के बल पर एक लोक से दूसरे लोक की यात्रा कर सकते हैं। राजा प्राचीनबर्हि को उपदेश देने के बाद नारद मुनि सिद्धलोक को चले गये और राजा को सिद्धलोक का आमंत्रण देते गये।

प्राचीनबर्ही राजर्षिः प्रजासर्गाभिरक्षणे ।
आदिश्य पुत्रानगमत्तपसे कपिलाश्रमम् ॥ ८१ ॥

शब्दार्थ

प्राचीनबर्हिः—राजा प्राचीनबर्हि; राज-ऋषिः—साधु राजा; प्रजा-सर्ग—नागरिकों का समूह; अभिरक्षणे—रक्षा करने के लिए; आदिश्य—आदेश देकर; पुत्रान्—अपने पुत्रों को; अगमत्—प्रस्थान किया; तपसे—तपस्या करने के लिए; कपिल-आश्रमम्—कपिलाश्रम नामक तीर्थ स्थल को।

अपने मंत्रियों की उपस्थिति में राजर्षि प्राचीनबर्हि ने अपने पुत्रों को नागरिकों की रक्षा करने के लिए आदेश छोड़ा। तब उन्होंने घर छोड़ दिया और तपस्या हेतु कपिलाश्रम नामक तीर्थस्थान के लिए प्रस्थान किया।

तात्पर्य : इस श्लोक में *प्रजासर्ग* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। जब राजर्षि प्राचीनबर्हि को नारद मुनि ने गृहत्याग करने तथा भगवद्भक्ति करने की दीक्षा दी तब तक उसके पुत्र जल में तपस्या करके नहीं लौटे थे। किन्तु उसने उनके वापस आने की प्रतीक्षा नहीं की, अपितु यह संदेश देते गये कि वे प्रजा की रक्षा करें। वीर राघव आचार्य के अनुसार ऐसी रक्षा का अर्थ है प्रजा को चार वर्णों तथा चार आश्रमों के विशिष्ट विभागों में गठित करना। राजाओं का उत्तरदायित्व होता था कि वे यह देखें कि प्रजा चारों वर्णों (अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र) तथा चारों आश्रमों (अर्थात् ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास) के धर्मों का पालन कर रही है। इस वर्णाश्रम धर्म को सुगठित किये बिना किसी राज्य में प्रजा पर शासन चलाना अत्यन्त कठिन है। मात्र विधान सभा में प्रत्येक वर्ष अधिनियम बना कर राज्य में प्रजा पर शासन करना तथा उन्हें पूर्ण शान्ति में रखना सम्भव नहीं है। अच्छी सरकार के लिए वर्णाश्रम धर्म अत्यावश्यक है। मनुष्य के एक वर्ग (ब्राह्मणों) को बुद्धिमान तथा ब्राह्मण के रूप में योग्य होना चाहिए, दूसरे वर्ग (क्षत्रिय) को प्रशासन में प्रशिक्षित होना चाहिए, अन्य वर्ग को व्यापार में (वैश्य) और इससे भी अवर वर्ग (शूद्र) को श्रम में प्रशिक्षित होना चाहिए। मनुष्यों के ये चारों वर्ग प्रकृति के अनुसार पहले से हैं, किन्तु सरकार का कर्तव्य होता है कि वह देखे कि ये चारों वर्ग अपने-अपने वर्ण का नियमपूर्वक पालन करें। यह अभिरक्षण कहलाता है।

महत्त्वपूर्ण बात यह है कि जब नारद के उपदेश से महाराज प्राचीनबर्हि जीवन के उद्देश्य के प्रति आश्वस्त हो गया तो उसने अपने पुत्रों के लौटने की क्षणमात्र भी प्रतीक्षा नहीं की, वरन् तुरन्त ही प्रस्थान कर दिया। उसे अपने पुत्रों के लौटने पर अनेक कार्य करने थे, किन्तु उसने उनके लिए केवल सन्देश छोड़ा। उसने जान लिया था कि यह उसका मुख्य कर्तव्य था। उसने अपने पुत्रों के लिए केवल

सन्देश छोड़ा और वह आध्यात्मिक उन्नति के लिए घर छोड़ कर चला गया। यही वैदिक सभ्यता की विधि है।

श्रीधर स्वामी का कथन है कि कपिलाश्रम गंगा नदी तथा बंगाल की खाड़ी के संगम पर स्थित है, जिसे अब गंगासागर कहा जाता है। आज भी यह स्थान तीर्थयात्रा के लिए प्रसिद्ध है और मकर संक्रान्ति के दिन प्रतिवर्ष लाखों लोग यहाँ एकत्र होकर स्नान करते हैं। इसका नाम कपिलाश्रम इसलिए है क्योंकि यहाँ पर भगवान् कपिल ने रहकर तपस्या की थी। उन्होंने सांख्य दर्शन का प्रवर्तन किया।

तत्रैकाग्रमना धीरो गोविन्दचरणाम्बुजम् ।
विमुक्तसङ्गोऽनुभजन्भक्त्या तत्साम्यतामगात् ॥ ८२॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ; एक-अग्र-मनाः—पूर्ण मनोयोग से; धीरः—गम्भीर; गोविन्द—कृष्ण के; चरण-अम्बुजम्—चरणकमलों की; विमुक्त—मुक्त होकर; सङ्गः—भौतिक संगति; अनुभजन्—लगातार भक्ति में लगकर; भक्त्या—शुद्ध भक्ति से; तत्—भगवान् के साथ; साम्यताम्—समता; अगात्—प्राप्त किया।

कपिलाश्रम में तपस्या करके राजा प्राचीनबर्हि ने समस्त भौतिक उपाधियों से पूर्ण मुक्ति प्राप्त कर ली। वह भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में निरन्तर लगा रहा और गुणात्मक दृष्टि से भगवान् के ही समान आध्यात्मिक पद पर पहुँच गया।

तात्पर्य : *तत् साम्यताम् अगात्* पद का विशेष महत्त्व है। राजा ने भगवान् के ही समान पद प्राप्त कर लिया। निश्चित रूप से इससे यह सिद्ध हो जाता है कि भगवान् सदैव पुरुष होता है। अपने निराकार रूप में वह अपने दिव्य शरीर की किरणों के समान होता है। जब जीव आध्यात्मिक सिद्धि प्राप्त कर लेता है, तो उसे भी सच्चिदानन्द-विग्रह जैसा शरीर मिल जाता है। यह आध्यात्मिक शरीर कभी भी भौतिक तत्त्वों के साथ नहीं मिलता। बद्ध जीवन में यद्यपि वह भौतिक तत्त्वों (यथा पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि, अहंकार) से घिरा रहता है, किन्तु वह उनसे सदा पृथक् भी बना रहता है। अन्य शब्दों में, जीव किसी भी समय भौतिक स्थिति से मुक्त हो सकता है, बशर्ते कि वह वैसा होना चाहे। यह भौतिक परिवेश माया कहलाता है। कृष्ण के अनुसार (*भगवद्गीता* ७. १४)—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

"मेरी यह दैवी शक्ति अर्थात् त्रिगुणमयी माया बड़ी दुस्तर है। परन्तु जो मेरे शरणागत हो जाते हैं,

वे सुगमतापूर्वक इसे तर जाते हैं।''

ज्योंही जीव भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में लग जाता है, वह तुरन्त ही समस्त भौतिक स्थितियों से मुक्ति पा लेता है (*स गुणान्समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते*)। जीव भौतिक स्थिति में जीवभूत पद पर रहता है, किन्तु जब वह भगवान् की भक्ति करता है, तो वह ब्रह्मभूत पद को प्राप्त होता है। ब्रह्मभूत पद पर जीव भौतिक बन्धन से छूट जाता है और भगवान् की सेवा में लग जाता है। इस श्लोक में आगत धीर शब्द को कभी-कभी *वीर* पढ़ा जाता है। वास्तव में इन दोनों में बहुत कम अन्तर है। *धीर* का अर्थ है ''गम्भीर'' और *वीर* का अर्थ है ''बहादुर।'' जो माया से संघर्ष करता है, वह वीर (बहादुर) है और जो अपनी स्थिति को समझने में अत्यन्त गम्भीर होता है, वह धीर है। बिना धीर अथवा वीर बने वह आध्यात्मिक मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता।

एतदध्यात्मपारोक्ष्यं गीतं देवर्षिणानघ ।
यः श्रावयेद्यः शृणुयात्स लिङ्गेन विमुच्यते ॥ ८३॥

शब्दार्थ

एतत्—यह; अध्यात्म—आध्यात्मिक; पारोक्ष्यम्—प्रामाणिक विवरण; गीतम्—वर्णन किये गये; देव-ऋषिणा—देवर्षि नारद के द्वारा; अनघ—हे निष्पाप विदुर; यः—जो; श्रावयेत्—वर्णन कर सकता है; यः—जो; शृणुयात्—सुन सकता है; सः—वह; लिङ्गेन—देहात्मबुद्धि से; विमुच्यते—छूट जाता है।.

हे विदुर, जो कोई जीव के आध्यात्मिक अस्तित्व को समझने से सम्बद्ध, नारद द्वारा कहे गये इस आख्यान को सुनता है या ऐसे अन्यों को सुनाता है, वह देहात्मबुद्धि की अवधारणा से मुक्त हो जाएगा मुक्त हो जाएगा।

तात्पर्य : यह भौतिक सृष्टि आत्मा का स्वप्न है। वस्तुतः इस भौतिक जगत का संपूर्ण अस्तित्व महाविष्णु का स्वप्न है, जैसाकि *ब्रह्म-संहिता* में वर्णन मिलता है—

यः कारणार्णवजले भजति स्म योग-

निद्रामनन्तजगदण्डसरोमकूपः ।

यह जगत महाविष्णु की स्वप्नावस्था द्वारा उत्पन्न हुआ। वास्तविक मंच तो आध्यात्मिक जगत है, किन्तु जब आत्मा परमात्मा का अनुकरण करना चाहता है, तो वह उस स्वप्न-जगत में भेज दिया जाता है। प्रकृति के भौतिक गुणों के संपर्क में आने के पश्चात, जीव सूक्ष्म तथा स्थूल शरीरों को विकसित करता है। जीव को जब श्रीनारद महामुनि या उनके दासों की संगति करने का सुअवसर मिलता है, तो

वह भौतिक सृष्टि के स्वप्न लोक तथा देहात्मबुद्धि से मुक्त हो जाता है।

एतन्मुकुन्दयशसा भुवनं पुनानं
देवर्षिवर्यमुखनि:सृतमात्मशौचम् ।
य: कीर्त्यमानमधिगच्छति पारमेष्ठ्यं
नास्मिन्भवे भ्रमति मुक्तसमस्तबन्ध: ॥ ८४॥

शब्दार्थ

एतत्—यह आख्यान; मुकुन्द-यशसा—भगवान् कृष्ण की ख्याति से; भुवनम्—यह भौतिक जगत; पुनानम्—पवित्र करने वाला; देव-ऋषि—ऋषियों के; वर्य—प्रमुख; मुख—मुख से; नि:सृतम्—निकला हुआ; आत्म-शौचम्—हृदय को पवित्र करने वाला; य:—जो कोई; कीर्त्यमानम्—कीर्तन किया गया; अधिगच्छति—वापस जाता है; पारमेष्ठ्यम्—आध्यात्मिक जगत को; न—कभी नहीं; अस्मिन्—इसमें; भवे—भौतिक जगत में; भ्रमति—घूमता है; मुक्त—मुक्त होकर; समस्त—सभी; बन्ध:—बन्धनों से।

नारद मुनि द्वारा उद्बोधित यह आख्यान (कथा) भगवान् की दिव्य ख्याति से पूर्ण है। अत: जब इस आख्यान का वर्णन किया जाता है, तो वह इस भौतिक जगत को पवित्र कर देता है। वह जीव के हृदय को पवित्र करता है और उसे आध्यात्मिक स्वरूप प्राप्त करने में सहायक होता है। जो कोई इस दिव्य आख्यान को सुनाता है, वह समस्त भौतिक बन्धनों से मुक्त हो जाएगा और उसे इस भौतिक जगत में भटकना नहीं पड़ेगा।

तात्पर्य : जैसाकि श्लोक संख्या ७९ में इंगित किया जा चुका है, नारद मुनि ने अनुष्ठानों एवं कर्मों को सम्पन्न करने में समय न गँवाकर राजा प्राचीनबर्हि को भक्ति करने का उपदेश दिया। इस अध्याय में सूक्ष्म तथा स्थूल शरीरों के सजीव वर्णन अत्यन्त वैज्ञानिक हैं और नारद मुनि द्वारा व्याख्यायित किये जाने के कारण अत्यन्त प्रामाणिक हैं। ये आख्यान भगवान् की महिमा से पूर्ण होने के कारण मन की शुद्धि के लिए अत्यन्त सशक्त साधन हैं। जैसाकि श्री चैतन्य महाप्रभु ने पुष्टि की है—*चेतो दर्पणमार्जनम्।* जितना ही हम कृष्ण के विषय में बोलते, सुनते या उपदेश देते हैं उतना ही हम शुद्ध होते जाते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि हमें भ्रान्तियुक्त स्थूल तथा सूक्ष्म शरीर धारण न करके अपनी आध्यात्मिक पहचान ग्रहण करनी होती है। जो इस आध्यात्मिक ज्ञान को समझने का प्रयास करता है, वह इस अज्ञान-सागर से उबर आता है। इस प्रसंग में *पारमेष्ठ्यम्* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। *पारमेष्ठ्यम्* को ब्रह्मलोक भी कहते हैं, जहाँ ब्रह्मा निवास करता है। ब्रह्मलोक के वासी सदैव ऐसे आख्यानों की चर्चा करते हैं जिससे इस संसार के संहार के बाद वे सीधे वैकुण्ठलोक को जा सकें। जो वैकुण्ठलोक

को चला जाता है उसे इस संसार में इधर-उधर भटकना नहीं पड़ता। कभी-कभी आध्यात्मिक कार्य भी *पारमेष्ठ्यम्* कहलाते हैं।

अध्यात्मपारोक्ष्यमिदं मयाधिगतमद्भुतम् ।
एवं स्त्रियाश्रमः पुंसश्छिन्नोऽमुत्र च संशयः ॥ ८५ ॥

शब्दार्थ

अध्यात्म—आध्यात्मिक; पारोक्ष्यम्—अधिकारी द्वारा वर्णित; इदम्—यह; मया—मेरे द्वारा; अधिगतम्—सुना हुआ; अद्भुतम्—आश्चर्यजनक; एवम्—इस प्रकार; स्त्रिया—स्त्री के साथ; आश्रमः—शरण; पुंसः—जीव का; छिन्नः—मिट जाता है; अमुत्र—अगले जन्म के विषय में; च—भी; संशयः—सन्देह।

यहाँ पर अधिकार पूर्वक वर्णित राजा पुरञ्जन का रूपक मैंने अपने गुरु से सुना था। यह अध्यात्मिक ज्ञान से पूर्ण है। यदि कोई इस रूपक के उद्देश्य को समझ ले तो वह निश्चय ही देहात्मबुद्धि से छुटकारा पा जाएगा और मृत्यु के पश्चात् जीवन को ठीक से समझ सकेगा। यदि वह आत्मा के देहान्तर को ठीक से न समझ पाये तो वह इस आख्यान को पढ़कर उसे अच्छी तरह समझ सकता है।

तात्पर्य : *स्त्रिया* शब्द, जिसका अर्थ "पत्नी के साथ" है, महत्त्वपूर्ण है। साथ-साथ रहने वाले स्त्री तथा पुरुष ही इस संसार के सार-समाहार हैं। स्त्री तथा पुरुष के मध्य अत्यन्त प्रबल आकर्षण होता है। सभी योनियों में नर तथा मादा के मध्य पाया जाने वाला आकर्षण उनके अस्तित्व का आधारभूत सिद्धान्त है। पारम्पारिक मेल-जोल का यह सिद्धान्त मानव-समाज पर भी लागू होता है, किन्तु यह नियमित होता है। संसार का अर्थ है नर तथा मादा का एकसाथ रहना तथा एक दूसरे के प्रति आकृष्ट होना। किन्तु आध्यात्मिक जीवन को भली-भाँति जान लेने पर विपरीत लिंग के लिए आकर्षण पूरी तरह समाप्त हो जाता है। ऐसे आकर्षण से ही मनुष्य इस भौतिक जगत में अत्यधिक आसक्त रहता है। यह हृदय के भीतर की कठोर ग्रन्थि है।

पुंसः स्त्रिया मिथुनीभावमेतं
तयोर्मिथो हृदयग्रन्थिमाहुः।
अतो गृहक्षेत्रसुताप्तवित्तै
र्जनस्य मोहोऽयमहं ममेति॥

(*भागवत* ५.५.८)

प्रत्येक व्यक्ति इस जगत में इन्द्रियतृप्ति के प्रति आसक्त होकर आता है और इन्द्रियतृप्ति की कठोर ग्रन्थि नर तथा मादा के मध्य आकर्षण है। इस आकर्षण से मनुष्य *गृहक्षेत्रसुताप्तवित्त*—अर्थात् घर, भूमि, सन्तान, मित्र, धन इत्यादि के रूप में अत्यधिक आसक्त रहता है। इस प्रकार मनुष्य "मैं" तथा "मेरा" की देहात्मबुद्धि में फँस जाता है। किन्तु यदि वह राजा पुरञ्जन की कथा को समझता है और यह भी समझता है कि किस प्रकार कामवासना के कारण वह अगले जन्म में स्त्री बना तो मनुष्य को देहान्तर की क्रिया भी समझ में आ जायेगी।

विशेष टिप्पणी :

मध्वाचार्य सम्प्रदाय के श्रीविजयध्वज तीर्थ के अनुसार निम्नलिखित श्लोकों में से प्रथम दो श्लोक इस अध्याय के ४५ वें श्लोक के बाद आते हैं और शेष दो श्लोक ७९ वें श्लोक के बाद आते है।

सर्वेषामेव जन्तूनां सततं देहपोषणे।
अस्ति प्रज्ञा समायत्ता को विशेषस्तदा नृणाम्॥१अ॥
लब्ध्वेहान्ते मनुष्यत्वं हित्वा देहाद्यसद्ग्रहम्।
आत्मसृत्या विहायेदं जीवात्मा स विशिष्यते॥२अ॥

सर्वेषाम्—सभी; एव—निश्चय ही; जन्तूनाम्—पशुओं का; सततम्—सदैव; देह-पोषणे—शरीर के पालन के लिए; अस्ति—है; प्रज्ञा—बुद्धि; समायत्ता—आधारित; कः—क्या; विशेषः—अन्तर; तदा—तब; नृणाम्—मनुष्यों का; लब्ध्वा—प्राप्त करके; इह—यहाँ; अन्ते—अनेक जन्मों के अन्त में; मनुष्यत्वम्—मनुष्य जीवन; हित्वा—त्याग कर; देह-आदि—स्थूल तथा सूक्ष्म शरीर में; असत्-ग्रहम्—गलत जीवन का बोध; आत्म—आध्यात्मिक ज्ञान के; सृत्या—पथ के द्वारा; विहाय—त्याग कर; इदम्—यह शरीर; जीव-आत्मा—आत्मा; सः—वह; विशिष्यते—प्रमुख बन जाता है।

शरीर, स्त्री तथा बच्चों को पालने की इच्छा पशु समाज में भी देखी जाती है। पशुओं में ऐसे व्यापारों की व्यवस्था करते रहने की पूरी बुद्धि होती है। यदि मनुष्य केवल इसी बात में उन्नत हो तो फिर उसमें तथा पशु में क्या अन्तर है? मनुष्य को यह भली-भाँति समझ लेना चाहिए कि विकास प्रक्रम में अनेकानेक जन्मों के पश्चात् यह मानव जीवन प्राप्त होता है। जो बुद्धिमान मनुष्य स्थूल तथा सूक्ष्म शरीर की देहात्मबुद्धि को त्याग देता है, वह आध्यात्मिक ज्ञान के प्रकाश से परमेश्वर के ही समान प्रधान आत्मा बन जाएगा।

तात्पर्य : कहा जाता है कि मनुष्य तर्कशील पशु है, किन्तु इस श्लोक से हम यह भी समझ सकते हैं कि पशु जीवन में भी तर्कशक्ति पाई जाती है। जब तक तर्कशक्ति न हो, पशु किस प्रकार कठिन श्रम करके अपना शरीर-पालन कर सकता है? यह कहना कि पशु तर्कशील नहीं है असत्य है; हाँ उनकी

तर्कशीलता उन्नत नहीं होती। हम किसी तरह से उनकी तर्कशीलता से इनकार नहीं कर सकते। बात यह है कि मनुष्य को भगवान् को समझने के लिए तर्कशक्ति का प्रयोग करना चाहिए, क्योंकि यही मानव जीवन की पूर्णता है।

भक्तिः कृष्णे दया जीवेष्वकुण्ठज्ञानमात्मनि।
यदि स्यादात्मनो भूयादपवर्गस्तु संसृतेः ॥१आ॥

भक्तिः—भक्ति; कृष्णे—कृष्ण में; दया—दया; जीवेषु—अन्य जीवों पर; अकुण्ठ-ज्ञानम्—पूर्ण ज्ञान; आत्मनि—आत्मा का; यदि—यदि; स्यात्—हो; आत्मनः—आत्मा का; भूयात्—हो; अपवर्गः—मोक्ष; तु—तब; संसृतेः—भौतिक जीवन के बन्धन से।

यदि जीव का विकास कृष्णभक्ति में होता है और वह अन्यों पर दयालु होता है, यदि उसका आत्म-साक्षात्कार का आध्यात्मिक ज्ञान पूर्ण होता है, तो उसे संसार के बन्धन से अविलम्ब मोक्ष प्राप्त हो जाएगा।

तात्पर्य : इस श्लोक में *दया जीवेषु* का अर्थ है ''अन्य जीवों के प्रति दया'' जिससे सूचित होता है कि यदि जीव आत्म-साक्षात्कार में प्रगति करने का इच्छुक है, तो उसे अन्य जीवों के प्रति दयालु होना चाहिए। इसका यह अर्थ हुआ कि उसे अपने आप पूर्ण बनकर तथा कृष्ण के चिर दास के रूप में अपनी स्थिति को समझने के बाद इस ज्ञान का उपदेश करना चाहिए। इसका उपदेश करना ही जीवों के प्रति वास्तविक दया दिखाना है। अन्य प्रकार के मानव-कल्याणकारी कार्य शरीर के लिए क्षणिक लाभप्रद हो सकते हैं, किन्तु जीव के आत्मा होने से मनुष्य वास्तविक दया तभी दिखा सकता है जब वह उसे आध्यात्मिक स्थिति का ज्ञान करा दे। जैसाकि चैतन्य महाप्रभु ने कहा है—*जीवेर ''स्वरूप'' हय—कृष्णेर 'नित्यदास'*—प्रत्येक जीव स्वाभाविक रूप से कृष्ण का दास है। मनुष्य को इसका अनुभव करना चाहिए और जनसमूह में इसका उपदेश देना चाहिए। यदि कोई यह अनुभव कर लेता है कि वह कृष्ण का नित्य दास है, किन्तु इसका उपदेश नहीं देता तो उसका साक्षात्कार अधूरा है। अतः श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर गाते हैं—*दुष्ट मन, तुमि किसेर वैष्णव? प्रतिष्ठार तरे, निर्जनेर घरे, तवहरिनाम केवल कैतव*—हे मेरे मन! तुम कैसे वैष्णव हो? तुम झूठी प्रतिष्ठा तथा भौतिक ख्याति के लिए एकान्त स्थान में हरे कृष्ण मंत्र का जप कर रहे हो। इस प्रकार जो लोग उपदेश नहीं देते उनकी आलोचना की जाती है। वृन्दावन में ऐसे अनेक वैष्णव हैं, जो उपदेश करना पसन्द नहीं करते। वे

हरिदास ठाकुर की नकल करते हैं। एकान्त स्थान में उनके तथाकथित जप का वास्तविक फल यह होता है कि वे सोते हैं और स्त्री तथा धन का चिन्तन करते हैं। इसी प्रकार जो मन्दिर में पूजा करता है और जनसमूह के हितों को नहीं देखता अथवा भक्तों को नहीं पहचानता वह कनिष्ठ अधिकारी कहलाता है—

अर्चायामेव हरये पूजां यः श्रद्धयेहते।

न तद्भक्तेषु चान्येषु स भक्तः प्राकृतः स्मृतः ॥

(भागवत ११.२.४७)

अदृष्टं दृष्टवन्नङ्क्षेद् भूतं स्वप्नवदन्यथा।
भूतं भवद्भविष्यच्च सुप्तं सर्वरहोरहः ॥२आ॥

अदृष्टम्—भावी सुख; दृष्ट-वत्—प्रत्यक्ष अनुभव की तरह; नङ्क्षेत्—परास्त हो जाता है; भूतम्—भौतिक संसार; स्वप्नवत्—स्वप्न की तरह; अन्यथा—नहीं तो; भूतम्—गत, भूतकाल में घटित; भवत्—वर्तमान; भविष्यत्—भविष्य; च—भी; सुप्तम्—स्वप्न; सर्व—सबों का; रहः-रहः—रहस्य।

काल के अन्तर्गत भूत, वर्तमान तथा भविष्य में जो कुछ घटित होता है, वह मात्र स्वप्न है। समस्त वैदिक साहित्य का यही रहस्य है।

तात्पर्य : वास्तव में सारा संसार मात्र स्वप्न है, अतः भूत, वर्तमान या भविष्य का प्रश्न ही नहीं उठता। जो लोग कर्मकाण्ड विचार वाले हैं जिसका तात्पर्य है कि वे "सकाम कर्मों द्वारा भविष्य के सुख के लिए कार्यरत हैं" वे भी स्वप्न देखते हैं। इसी तरह गत सुख तथा वर्तमान सुख भी स्वप्न मात्र हैं। वास्तविकता तो कृष्ण तथा कृष्ण-सेवा है, जो हमें माया के चंगुल से बचा सकती है जैसाकि भगवान् ने *भगवद्गीता* (७.१४) में कहा है—*मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते*—जो मेरी शरण ग्रहण करते हैं, वे मेरी माया को पार कर जाते हैं।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत *के चतुर्थ स्कंध के अन्तर्गत "नारद तथा राजा प्राचीनबर्हि के मध्य वार्तालाप" नामक उन्तीसवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।*